कला और सौन्दर्य

(साहित्यिक तथा सांस्कृतिक लेखों का संग्रह)

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

मुख्य विक्रेता

आत्माराम एण्ड सन्स

काश्मीरी गेट,

दिल्ली ६

प्रकाशक
यूनिवर्सिटी बुकडिपो
जालंधर

मूल्य ~~तीन रुपया~~ 3।।।)

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तिका में मेरे कतिपय नए-पुराने लेखों का संग्रह है, जो विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाले हैं। पुरातत्व-विषयक लेख सबसे पुराने हैं; साहित्य, शिक्षा, अध्यात्म और संस्कृति वाले बाद के हैं। संग्रह में दो भाषण भी सम्मिलित हैं। एक को छोड़कर सभी लेख अपने-अपने समय पर किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं, जिसका हवाला लेखों के अन्त में फुटनोट में दे दिया गया है। लेखों को पढ़ते समय इन हवालों का ध्यान रखना उचित होगा।

पहले विचार हुआ था कि इन सब लेखों-भाषणों को अलग-अलग-वर्गों में विभाजित करके विषय-क्रम से ही संग्रह में रक्खा जाए अथवा फिर, रचना-समय के क्रम से उपस्थित किया जाए। परन्तु लेखों की संख्या कम होने के कारण एक-एक दो-दो लेखों को लेकर वर्ग बनाना अच्छा नहीं लगा और विषयों की नैकता के कारण रचना-क्रम की भी कोई सार्थकता दिखाई न दी। इसलिए इस प्रकीर्ण सामग्री को प्रकीर्ण रूप में ही प्रकाशक के अनुसार, प्रस्तुत होने के लिए मैंने छोड़ दिया। पुस्तक के नामकरण को भी प्रकाशक को ही इच्छा पर छोड़ दिया।

प्रकाशक को इतना अधिकार दे देना किसी अंश तक न्याय्य भी था। इस संग्रह के सभी लेख कुछ-न-कुछ गम्भीर ढंग के से हैं शायद। गम्भीर ढङ्ग के लेख किस्से-कहानी की तरह जल्दी-जल्दी नहीं बिक जाते। ऐसे लेखों के प्रकाशन में प्रकाशक को थोड़ा-बहुत सोचना ही पड़ता है। विश्वविद्यालय का आर्थिक सहयोग होने पर भी इस संग्रह को प्रकाशित करने में प्रकाशक को कुछ साहस से काम लेना ही पड़ा है। अतः प्रकाशक के हो दृष्टिकोण से पुस्तक की सामग्री का संयोजन होना मुझे उचित ही प्रतीत हुआ।

यदि राजपूताना विश्वविद्यालय का आर्थिक सहयोग प्राप्त न होता तो कदाचित् ये लेख प्रस्तुत रूप में प्रकाशित ही न हो पाता। सम्भवतः इन्हें पुस्तक-रूप देने का मैं कभी विचार भी न कर पाते। इस सहयोग के लिए मैं राजपूताना विश्वविद्यालय का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

—रामकृष्ण शुक्ल

विषय-सूची

१

कला और सौन्दर्य

मनुष्य ने ही 'कला' और 'सौन्दर्य' शब्दों की निर्मिति की है। और इन शब्दों के प्रयोग का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी कि मानवता। समय की दृष्टि से इस व्यापकता का आरम्भ उसी क्षण से हो जाता है जब कि मनुष्य पशु से मानव बना था। मानवतागत और समयगत व्याप्तियों का अर्थ एक ही है।

कला और सौन्दर्य में सामान्य मानवता का ही कोई गुणविशेष होना दोनों का लक्षण बन जाता है। मानवता का पहला गुण है विवेक—(Man is a rational animal)। क्या कला और सौन्दर्य में भी विवेक की प्रक्रिया रहती है? अवश्य। परन्तु विवेक व्यवहार की प्रेरणा का फल है। क्या कला और सौन्दर्य में व्यवहार का कोई तत्त्व है? यह ज़रा सोचने की बात है।

मनुष्य पशु से मानव तो बना, परन्तु क्या उसकी पशुता दूर हो गई? पशु में विवेक तो शायद वैसा नहीं होता, परन्तु उसमें प्राणिता तो मनुष्य की ही भाँति है। प्राणिता का रूप केवल साँस लेना ही नहीं है, उसका तत्त्व रहना या जीना है। रहने में सहज संकल्प का भाव है, और संकल्प का अस्तित्व रुचि से है। पशु भी जब रहने का काम करता है तो रुचि का अनुसरण करता है। मनुष्य ने रुचि को ही विवेक से संस्कृत किया है। रुचि के अर्थ में प्रियता सन्निहित है। प्रियता की वैयक्तिकता और क्षणिकता में पशुता है, उसकी सामाजिकता में विवेक का संस्कार है।

जो वस्तु हमको अच्छी लगती है वही हमारे लिए सुन्दर है। परन्तु हम उसकी सुन्दरता की घोषणा तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उसमें दूसरों को भी अच्छी लगने के तत्त्व न हों। मानेगा ही कौन ? दूसरों को भी अच्छा लगने का आधार सामान्य प्राणिवृत्तियाँ हैं। स्त्री प्रत्येक प्राणी को अच्छी लगती है, इसलिए मनुष्य ने स्त्रीत्व में प्रियता का आरोप कर के उसे सौन्दर्य के उपकरणों से लाद दिया, भले ही संसार में अच्छी न लगने वाली स्त्रियाँ भी हुआ करें। परन्तु मानव ने सामाजिक विवेक द्वारा लज्जा को महत्त्व देते हुए स्त्री प्रियता की लिंग भावना को गौण रुचिवर्धकों (Appetisers) के महत्त्वावरण से छिपा दिया। शरद्‌ऋतु की चाँदनी अथवा ग्रीष्म-ऋतु में शीतल वायु प्राणिमात्र को अच्छी लगती है। उनकी प्रियता की इस व्यापकता को पकड़ कर मनुष्य उन्हें भी सुन्दर कहता है।

अपने विवेक द्वारा ही मनुष्य ने सामाजिक प्रियता के सौन्दर्यार्थ को समझा। फिर उस विवेक से उसने उन तत्त्वों या गुणों का विश्लेषण किया जिनसे कोई वस्तु या बात प्रिय बन कर सुन्दर हो जाती है। और प्रिय तो प्राणी को सर्वत्र, सर्वदा ही चाहिए। इसलिए विवेकी मानव ने प्रेय, सौन्दर्य के उपकरणों का वैज्ञानिक की भाँति प्रयोग करने का अभ्यास किया। यहाँ से कला का आरम्भ हो जाता है। जहाँ-जहाँ मनुष्य इन उपकरणों का प्रयोग कर सका वहीं उसने सौन्दर्य की उद्‌भूति करली।

कला इस रूप में सौन्दर्य की नक़ल हो गई। कला का अर्थ भी है "कारीगरी"। कारीगरी प्राणी की सहज प्राकृतिक क्रिया नहीं है। जिस स्थान, द्रव्य अथवा अवस्था में सौन्दर्य के समस्त उपकरण स्वभावतः नहीं रहते वहाँ उनको उपस्थित करना ही कारीगरी या कला है। इस रूप में कारीगरी कृत्रिम सौन्दर्य है। परन्तु वह प्रियता की सहज वृत्तियों से उन्हीं वृत्तियों की तृप्ति के लिए प्रेरित होती है। अतः सहज प्रियता की वाँछा से तोली जाने के हेतु में उसकी कृत्रिमता का दूषण दूर हो जाता है।

प्रियता का सम्बन्ध हृदय से है। कभी-कभी अपना ही कोई विचार या भाव अपने को फड़का देता है। वह प्रिय, सुन्दर, होता है। उसकी सुन्दरता को उसके यथातथ्य स्वाभाविक रूप में दूसरों तक पहुँचा देना कौशल का, कला का, काम है। दूसरों के लिए वह उनकी स्वाभाविक सम्पत्ति न था। इस रूप में, अस्वाभाविक में 'कृत्रिम' स्वाभाविकता का सायुज्य पैदा करना कला को रूप देना है।

इस विवेचन के आधार पर, स्वाभाविक व्यापनीय प्रियता सौन्दर्य का आकार है। छद्म द्वारा इस स्वाभाविकता को अस्वभाव में दर्शाना कला की बाजी, यानी कलाबाजी है। आपने बाजीगरों के तमाशे देखे हैं। बाजीगर सब कुछ झूठ दिखाते हैं। परन्तु जो कुछ वे दिखाते हैं वह आपकी किसी वृत्ति का गहरा अनुरंजन करके तत्क्षण के लिए स्वभाव-सुन्दर के रूप में दिखाई देता है। कला और सौन्दर्य का यह अभिन्न सम्बन्ध है। सौन्दर्य कला का प्रेरक है।

जितनी भी मानव वृत्तियाँ हैं उन सब के प्रेरक आधार पर सौन्दर्य और कला के भी नाना रूप हो जाते हैं। इन वृत्तियों में से अनेक की चरितार्थता इन्द्रियों के माध्यम पर निर्भर है। इन्द्रियों में चक्षु का स्थान प्रधान-सा दीखता है। स्वयं कई अन्य इन्द्रियों के निजी व्यापार के लिए भी चक्षु की सहायता अपेक्षित होती है। भौतिक जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के जिस परस्पर-सम्बन्ध का अनुभव होने पर हम अखिल सृष्टि में किसी इकाई की प्रेरणा ग्रहण करते हैं और अपने को उस इकाई सृष्टि के अङ्गरूप में पाते हुए तद्रूप बनते हैं उसका निमित्त हमारा चक्षु-व्यापार ही है। समझ लीजिए कि मनुष्य को, प्राणी को, सब इन्द्रियाँ दी गई होतीं, और नेत्र न दिए गए होते! तो क्या सृष्टि और जगत् का यही रूप होता जो है? क्या कोई सामाजिकता होती, कोई सौन्दर्य होता, कोई कला होती?

चक्षु का पहला सम्बन्ध रूप से है, अतः सौन्दर्य का भी पहला सम्बन्ध रूप से ही है। संसार की सौन्दर्यानुसरणवृत्ति में रूप का कितना

हाथ है, इसे क्या हम नहीं देख रहे हैं? चक्षुर्ग्राह्य रूप के अनुशीलन से ही सर्वमान्य सौन्दर्यतत्त्व का विवेचन कर हम धीरे-धीरे अरूप वृत्ति-व्यापार में भी सामाजिक प्रियता का शोध करते हैं। जिस प्रकार पदार्थों और अवस्थाओं और व्यापारों में, उसी प्रकार भाववृत्तियों में भी हमें सौन्दर्य का आकर्षण प्राप्त होता है। फिर, इस आकर्षण के तत्त्वों का विश्लेषण और आरोप अरूप वृत्तियों के लिए भी कला की उद्भावना कर देता है। इसलिए कला-मीमांसकों के मुख से दो प्रकार की कलाओं—मूर्त्त और अमूर्त्त—के नाम सुनाई देते हैं। तथापि अरूप वृत्तियों के सौन्दर्याकर्षण की अनुभूति भी आकृति तथा व्यापार के रूप द्वारा ही प्रेरित होती है। प्रेम के आकर्षण का सौन्दर्य मनुष्य की मुखाकृति, चेष्टाओं आदि में झलकने लगता है—यहाँ तक कहते हैं कि उसकी वाणी में उसकी मुस्कराहट दिखाई देती है, उसके द्रवीकृत अन्तस् का आवेग—प्रवाह—दिखाई देता है। चित्रकला में व्यक्तियों या पदार्थों की आकृति तथा उनके वर्णसायुज्य से अरूपवृत्ति अथवा प्रभाव-सौन्दर्य को देखा जाता है। संगीत और काव्य में वाणी का आकार (स्वरूप) इस सौन्दर्य का प्रदर्शक होता है। वाणी अपनी सरूपता के लिए आँखों पर नहीं, कानों पर निर्भर होती है। इसलिए चित्र की तुलना में संगीत और काव्य को लोग अमूर्त कहते हैं। वास्तुकला तथा मूर्त्तिकला का सौन्दर्य एकांत चक्षुस्तृप्ति का व्यापार है। अतः ये दोनों कलाएँ अत्यन्त मूर्त्त कही जाती हैं।

सहज आकर्षण, सहज सौंदर्य, आत्मा की सहज आनन्दवृत्ति है—सच्चिदानन्द का स्फुरण-व्यापार है। यह न हो तो विश्व का संचरण बन्द हो जाए, सृष्टि बन्द हो जाए। कला इस सहज वृत्ति की सहज विकृति है, क्योंकि आनन्द-व्यापार का अधिक से अधिक विस्तार ही सच्चिदानन्द की अंतिम कोटि की लक्ष्य-सिद्धि है। यों कहिए कि कला आनन्दब्रह्म की माया है क्योंकि स्फुरण व्यापार-रूप में ही अभिव्यक्त हो सकता है, और व्यापार को हम अपनी स्थूल दृष्टि से अवस्थाओं तथा

तन्मूल सृष्टि-पदार्थों में ही देख पाते हैं। अतः कला-रूपिणी सौन्दर्यवृत्ति अपने विश्लेष-प्राप्त सौन्दर्यतत्त्वों को, जिन्हें बाद में हम नियम के नाम से पुकारने लगते हैं, पदार्थों और उनकी अवस्थाओं में ही चरितार्थ करती है। कला के नियम अरूप सौन्दर्यवृत्तियों अथवा आनन्द-स्फुरण की वृत्तियों को लागू नहीं होते : वे उनकी अभिव्यक्ति, दृश्य व्यापार, को ही लागू होते हैं।

सौन्दर्य से मनुष्य का छुटकारा नहीं, अतएव कला से भी उसका छुटकारा नहीं। यह इसी प्रकार है जिस प्रकार कि प्राणी का ब्रह्म और माया दोनों से ही छुटकारा नहीं। परन्तु यह अधिकतर होता है कि माया के प्रपंच में मनुष्य ब्रह्म को, जो उसका ही सच्चिदानन्द-ब्रह्मरूप है, भूलने लगता है। इसी भाँति कला का भी प्रपंच होता है। इस प्रपंच में कला को अतिरंजित महत्त्व प्रदान कर मनुष्य अपने सौन्दर्य, आनन्द ब्रह्म-रूप, को भूल जाता है। तब स्फुरण, अर्थात् प्रगति, बन्द होकर उलझन पैदा हो जाती है। काव्यकला का उदाहरण काम दे जाएगा। हिन्दी की रीति-कालीन कविता की वाहवाही में प्रायः लोग अपनी सच्ची आनन्द-सत्ता का तिरस्कार करते हैं। स्वयं रीतिकाल में तो और भी अधिक करते होंगे; अन्यथा क्या रीतिकालीन कविता अपने समय की परिपाटी बन जाती। परन्तु उसकी तुलना वाल्मीकि या कालीदास की कविता से तो कीजिए। पढ़ने वाले वाल्मीकि और कालिदास की सहजानन्दवृत्ति में स्वयं इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें ब्रजभाषावाली वाहवाही की सुध ही नहीं होती। पर यह केवल एक बात है। इसके साथ ही क्या हम यह भी नहीं देखते कि दोनों कवियों की सहजानन्दवृत्ति की सजीवता, स्फुरणशक्ति, आज तक होनेवाले कवियों के लिये प्रेरणा का रूप बन कर चल रही है, जब कि हिन्दी का रीतिकाव्य दो-तीन-सौ वर्षों में ही, अर्थात् वर्तमान युग में, लोगों के लिये आकर्षण नहीं, बल्कि विकर्षण का हेतु बन गया है। उस काव्य का स्फुरण, उसकी प्रेरणा, उसकी जीविनी-शक्ति कहाँ है? आजकल की कविता में जो कुछ हम देखते हैं वह वस्तुतः रीतिकाल की

कला-विषयिणी अतिरंजना-तत्कालीन कविता की मरणोन्मुखी प्रवृत्ति की जीवनोन्मुखी प्रतिक्रिया है, उसकी स्फुरण-परम्परा नहीं।

समय-रंग क्रिया-प्रतिक्रिया की क्रीड़ाभूमि है। सौन्दर्य की प्रतिक्रिया विलास नहीं, विलासिता है। विलास तो सौन्दर्य का स्फुरण है, व्यापार है। माया भी ब्रह्म का विलास है, परन्तु मायाऽवेश ब्रह्मवृत्ति की प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया के चक्कर में पड़कर मनुष्य अपने उस विवेक से हाथ धो बैठता है जिसके सहज उद्यम में उसने अपनी आनन्दवृत्ति को कला-भावना के रूप में स्वाभाविक स्फुरणव्याप्ति दी थी।

पर यह तो कैसे कहा जाए कि मनुष्य को इस तरह के प्रपंच में न पड़ना चाहिए। और 'न चाहिए' में यदि कोई बल होता तो कोश में आज शायद 'चाहिए' शब्द ही न रह गया होता। दुनिया के इतने-इतने अध्यात्म-दर्शनों के होते हुए भी क्या मनुष्य-समाज किसी युग में भी माया में प्रपंचों से एकदम बच पाया है ? फिर, कला के प्रपंच में भी फँसना ही पड़ता है।

मनुष्य के विवेक को उसके दिल पर थोड़ा-बहुत काबू है, परन्तु विवेक और दिल दोनों ही दुर्बल हैं। परिस्थितियों के आगे दोनों हो दब जाते हैं। शुद्ध सौन्दर्य-आनन्द की वृत्ति आकर्षण के रूप में व्यवहार का बीजारोपण करती है और कला इस बीज को अंकुरित और पल्लवित करती है। सौन्दर्यवृत्ति के आकर्षण में ही किसी प्रकार की संस्कृति का तत्त्व रहता है। कला की सामाजिकता का अर्थ जहाँ एक ओर व्यवहार को संस्कृति प्रदान करना है वहीं दूसरी ओर उस संस्कृति की विधि का निर्माण करना भी है। ऐसा करके कला संस्कृति की निर्देशिका, उसका शास्त्र बन जाती है। ऐसा करती हुई कला सामाजिकता को जितनी ही प्रबल बनाती जाती है उतनी ही, फिर, वह स्वयं निर्बल होती जाती है। सामाजिक सौन्दर्य कला है, वह ब्रह्म की आनन्दवृत्ति की विवेक-कल्पित, अथवा दूसरे शब्दों में 'चित्प्रेरित', व्याप्ति है; परन्तु समाज स्वयं उपयोग और व्यवहार के साध्यों में अधिकाधिक बँधता जाता है। कला अपनी

सामाजिकता में उपयोग के द्रव्यों, व्योपारों और अवस्थाओं तक में अपने को व्याप्त कर लेती है। परन्तु ऐसा करने में उपयोग के सामने उसका स्थान गौण बनने लगता है, क्योंकि उपयोग के मूल में आदिम पाशव आवश्यकताओं की अनिवार्यता है। इस स्थिति में कला सामाजिकता को निर्देशिका के स्थान से च्युत होकर सामाजिकता द्वारा स्वयं निर्दिष्ट होने लगती है। समाज की मानसिक प्रक्रिया में, उपयोग-व्यवहार से अनुरंजित कला से उसकी (कला की) विशिष्टता बहुत कुछ दूर होने लगती है, जिससे वह धीरे-धीरे रूढ़ि की वस्तु बन जाती है और हृदय की शुद्ध सौन्दर्य-आनन्दवृत्ति से उसका विच्छेद हो जाता है। तब कला प्रपंचात्मक हो जाती है और समाज को भी अपनी मिथ्या रूढ़ियों में फँसा कर उससे अपना बदला चुकाती है। रीतिकालीन काव्यकला में हम इसे देख सकते हैं। इसी में सामाजिक परिस्थितियों के वश से हार्दिक वृत्तियों तथा विवेक के अभिभाव की भी क्रीड़ा देखी जाती है।

समाज की परिस्थितियों की बात, स्वयं समाज के वश की भी सदा नहीं रहती। हृदय और विवेक की दुर्बलता में समाज बाहरी प्रभावों के सामने झुक जाता है। जीवन-विकास के विस्तार में इस तरह के प्रभाव आते ही हैं, और इसलिये हम आत्मप्रशस्ति के भाव से, यदि चाहें तो, यह भी कह सकते हैं कि इन प्रभावों के वशीभूत होना हृदय-वृत्ति और विवेक की दुर्बलता नहीं, बल्कि उनका विकास है। परन्तु जहाँ यह प्रभावित होना हृदय की सहज आनन्दवृत्ति की अनुकूलता में होता है वहीं उसमें विकास का रूप रहता है। जहाँ वह उपयोग-व्यवहार की मजबूरियों से होता है वहाँ वह दुर्बलता का ही द्योतक है। जो भी हो, यह यथार्थ है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभावों में सामाजिक परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, और इस परिवर्तन के साथ-साथ कला, सौन्दर्य-शास्त्र, का रूप भी बदलता रहता है। आजकल की सामाजिक परिस्थितियों में केश-शृङ्गार का रूप अँग्रेज़ी ढँग की काट-छाँट का है, जो किसी पुराने ज़माने में काकपक्ष-धारण की प्रणाली का था। संगीत का जो रूप पहले

था वह आजकल की सामाजिक रुचि में सिनेमा-संगीत से आपन्न हो रहा है। पाश्चात्य प्रभावों की वश्यता में हमारी काव्यकला का भी भिन्न रूप हो गया। उपयोगी शिल्पों की मर्यादा भी बदल गई है।

परिस्थितियों के चक्कर में उपयोग और व्यवहार से ग्रस्त होकर सौन्दर्य-सम्बन्धी भावना अपनी विशिष्टता क़ायम रखने की प्रतिक्रिया करती हुई अपने को द्विधा करके उपयोगी कला और ललित कला के दो नामों से अभिहित कराने लगती है। निस्सन्देह उपयोगी कला के वर्ग से हम सौन्दर्य भावना की व्यापकता का एक बहुत बड़ा अनुमान लगा सकते हैं, परन्तु "ललित कला" कहने से भी उसकी विशिष्टता का कोई विशेष उपकार नहीं होता। काव्य और संगीत जैसी ललित कलाओं को भी सामाजिक उपयोगिता का भार वहन करना ही पड़ता है जिसमें, जैसा कि कहा जा चुका है, वे समाज-संस्कृति की निर्देशिका न रह कर समाज-संस्कृति से निर्दिष्ट होती है। यहाँ एक बार फिर रीतिकालीन कविता का ही उदाहरण दिया जा सकता है।

परन्तु यद्यपि कला अपने रूपों में बदलती रहती है, सौन्दर्य का रूप नहीं बदलता; केवल उसकी वृत्ति कला-माया के चढ़ाव-उतार-पूर्ण आवेशों में उभरती या दबती रहा करती है। यदि हम इसमें सहमत हैं कि सौन्दर्य-भावना आनन्दरूप ब्रह्मवृत्ति ही है, अर्थात् यदि सौन्दर्य-भावना आनन्दतत्त्व का ही प्रतिफलन है, तो हम इस बात को भी स्वीकार कर लेंगे कि आजकल अँग्रेज़ी कट के बालों में वही सौन्दर्य है जो किसी पुराने ज़माने के सामाजिकों के लिए उनके काकपक्ष में था। इसी भाँति पाश्चात्य देशों में कभी कामिनियों के लम्बे बालों का सौन्दर्य आनन्द-वर्धक था, पर आज उसके स्थान में हम तरह-तरह के लहरियों और घूँघरों के विन्यास से सुसज्जित काकपक्षों (bobbed hair) पर मोहित होते हैं। समाजों की विभिन्नता से एक ही प्रकार की कला के दो या दो से अधिक विभिन्न रूप हमको एक ही समय में देखने को मिल सकते हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य समाजों की संगीत-कला और नृत्य-

कला अपने-अपने रूपों में दोनों स्थानों में एक दूसरी से बिलकुल ही भिन्न हैं, परन्तु दोनों में सौन्दर्य एक ही है। दोनों स्थानों की कलाएँ अपने-अपने सामाजिकों में एक ही आनन्दवृत्ति का उन्मेष करती हैं।

यहाँ हम यह देखते हैं कि सामाजिकता की उपयोग-जटिल विकृतियों के सामने कला यद्यपि दुर्बल पड़ते-पड़ते रूढ़िगत होकर कभी-कभी निर्जीव-सी भी हो जाती है, तथापि सौन्दर्य का पराक्रम सदा अप्रतिहत रहता है। इसीलिए वह एक कलारूप के जीर्ण हो जाने पर अपने उद्भास के लिए उसके रूपान्तरों की उद्भावना कर लेता है। एक प्रकार का केश-विन्यास जब रूढ़िगत होकर सामाजिकता के निर्देश से रिवाज का ही वाहनमात्र रह गया और सौन्दर्य-वहन में असमर्थ हो उठा तो मूल सौन्दर्य-प्रेरणा (आनन्द-प्रेरणा) भी चौंक उठी और उसने चुप-चाप विद्रोह कर केश-शृंगार का रूप पलट दिया। फैशनों में होनेवाली तरह-तरह की अदल-बदल प्रायः इस प्रेरणा से भी हुआ करती है, जो सौन्दर्य स्वभाव की अन्तर्गत बात है। कलाओं के जिस अस्थैर्य का पहले जिक्र हुआ है उसमें निहित दौर्बल्य के भीतर से जब परिस्थितियों के पाश को शिथिल करने की चेतना कभी-कभी जागरित होती है तो वस्तुतः वह मूलात्मभूत सौन्दर्यानन्द के आत्म-प्रसार का ही उद्यम होता है। जब यह उद्यम सामाजिक जीवन के अधिकांश क्षेत्रों को व्याप्त कर लेता है तो वह एक जागरण-युग (Renaissance period) को जन्म दे देता है, जिसमें कलाओं का नवजीवन होता है। यूरोप के मध्ययुगीन रिनैसेन्स को तथा भारत के असहयोग-समय से उदित हुए वर्तमान जागरण को देख लीजिए। विभिन्न समाजों या संस्कृतियों की अलग-अलग परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर तदनुरूप कलापद्धतियों का उदय करना भी सौन्दर्य के विश्वव्याप्य आत्माभिव्यञ्जन-पराक्रम का ही काम है।

सौन्दर्य-प्रेरणा की सहज व्यापकता में कला ने जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र को, मानव प्रगति की प्रत्येक चेष्टा को अधिकत कर रक्खा है।

जितने प्रकार की मानव-प्रगतियाँ हो सकती हैं उतने ही प्रकार की कलाएँ भी मिल जाएँगी। विश्वात्मा ने प्रत्येक प्रकार की चेष्टा में अपनी स्फुरणशीलता का परिचय देने के लिए उसे सजीवता, रम्यता, का सहज रूप दिया है। उसकी प्रगति-चेष्टाओं तथा तद्रूप कलाओं की गणना करना असम्भव है। तथापि सौन्दर्यवृत्ति के अन्वेषकों ने उन आधारों का स्थूल वर्गीकरण करके, जिनको लेकर मनुष्य प्रगतिशील होता है, कलाओं का भी उपयोगी अथवा ललित, मूर्त्त अथवा अमूर्त्त, नामों से वर्गानुसन्धान करने का प्रयत्न किया है।

परन्तु वर्गीकरण में जहाँ विभाजन की पद्धति रहती है वहीं उसमें क्या एकीकरण की पद्धति भी दृश्य नहीं है? वर्ग विभेदमयी एकता या एकतापूर्ण विभेद के आधार पर ही बनते हैं। तब हम यह पूछते हैं कि क्या अन्ततः सब कलाएँ एक ही नहीं हैं? हम जीवन में देखते हैं कि यद्यपि अलग-अलग कलाएँ अपनी अलहदगी में ही अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती हुई प्रतीत होती हैं, तथापि क्या वे एक-दूसरे से अपना संयोग करती हुई भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं? संगीत और नृत्य या काव्य और संगीत का मेल तो, खैर, लालित्य के आश्रय से आप मान लेंगे; परन्तु क्या यह अमाननीय है कि संगीत, काव्य और नृत्य के आनन्दास्वाव के लिए सुन्दर, सुसज्जित तथा विद्युत्प्रभा या झाड़फानूसों की जगमगाहट से सु-आलोकित भवन अथवा, फिर, चन्द्र-मशालची के कोमलोज्ज्वल सौहार्द से स्निग्ध लता-व्यजन व्योमवितान की अपेक्षा भी हुआ करती है? क्या सुअरों के रहने की बस्ती में या किसी ऐसे स्थान में जहाँ शेरों की दहाड़ से पलायनवृत्त चरणों की पलायनशक्ति भी मारी गई हो नृत्य गीतादि की सम्भावना हो सकती है? नहीं, बल्कि नृत्यगीतादि को रम्यता के रूप में प्रस्फुटित करने वाली प्रकृति या मनुष्य की वास्तुकला प्रकृतिकृत अथवा मनुष्यकृत चित्रों से द्विगुणीकृत होना भी चाहती रहती है। इतना ही क्यों, साधनों के अनुसार शिल्पों या उपयोगी कलाओं का भी वही योग हो जाता है। अवसरोपयुक्त सुन्दर वेषभूषा को धारण कर

हम जब चाँदी या सोने की तश्तरियों में पान-इलायची का दौर चलाते हैं तथा नए-से-नए नमूने के गिलासों या प्यालों में मादक स्फूर्ति का आवाहन करते हैं तो क्या हमारी कलावृत्ति में चार चाँद नहीं लग जाते ? फिर भी, ऐसे समय की कलावृत्ति में क्या कलाओं के वर्गों की चेतना कोई काम करती रहती है ? क्या हमारी उस समय की सौन्दर्य-भावना, आनन्दवृत्ति, का कोई वर्गाधार विश्लेषण हो सकता है ? अपनी एकता में वहाँ आनन्द पूर्णरूप होता है, केवल *एक* और *पूर्ण एक* होता है। कलाओं के परस्पर सहयोग की यह प्रवृत्ति क्या इस बात की घोषणा नहीं करती कि अन्ततः सब कलाएँ एक हैं; क्योंकि सौन्दर्य एक है, आनन्द एक है। और वह एक इतना बड़ा है जितना बड़ा कि यह ब्रह्मांड है।

हाँ, जितना बड़ा कि यह ब्रह्मांड ही है। क्योंकि कलाएँ उपयोग और व्यवहार से रुद्ध होने के कारण कहीं न कहीं सीमित हो जाती हैं। सामाजिकता की सीमा ने सौन्दर्यानुभूति को भी अपनी सीमाओं में ही यथासाध्य देखने की चेष्टा की है। परन्तु *केवल सौन्दर्यानुभूति* सीमाबद्ध नहीं है। आनन्दब्रह्म को किसने बाँधा है। अतः सामाजिकता में ही हम कलाओं की सीमा का विस्तार कर उन्हें संयोजित करते हैं, जिसका उदाहरण अभी दिया जा चुका है। परन्तु यह विस्तार सामाजिकता की सामर्थ्य-सीमा से आगे नहीं बढ़ पाता है। उसमें हमें जो आनन्द की पूर्णता मिलती है वह, वास्तव में, पूर्णता का आभासमात्र है जो कभी-कभी अलक्ष्य रूप में यथार्थ पूर्णता की वाँछा को तीव्र कर देता है। तब हम कला की बेड़ियों को काट देते हैं। हमने सौन्दर्य-प्रेमियों के मुख से अखिल प्रकृति को, ब्रह्म की मायामात्र को, चित्रकर्त्री, शिल्पकर्त्री, कवयित्री, संगीत-दात्री के नामों से सम्बुद्ध होते सुना है। सूखे हरे पत्तों की ताल पर वायु की सरसराहट का संगीत बहुतों की हृदयग्रन्थि को खोल देता है। Music of the spheres में किसी को अपनी आत्मा की एकतानता प्राप्त होगई थी। एक सज्जन को,जिन्हें शायद उन्मुक्त प्रकृतिके सहवास का अवसर अधिक न मिला होगा, रेलकी गतिकी नपी-तुली ध्वनि

अथवा नए जूतों की चर्र-मर्र में अद्भुत संगीत सुनाई दिया करता था।

नपातुलापन, अवयवों का सामंजस्य, अवश्य कला का भी आवश्यक गुण प्रतीत होता है। इस सामंजस्य से इन अवयवों का संगठन, जिससे सब की एकता बनती है, घटित होता है। सामाजिक कलाओं में यह सामंजस्य दिखाई देता है। प्रकृति की कला में तो वह इतना दिखाई देता है कि दिखाई ही नहीं देता। सब कुछ इतना एकाकार, पूर्णरूप, हो जाता है कि अवयवों का पता ही नहीं लगता।

फिर भी, प्रकृति मायामात्र है। वह मिथ्या है, इसलिए कि वह किसी असल की नक़ल करती है। अतः उसके द्वारा जिस पूर्णता को हम देखते हैं वह भी एक आभास ही है। पूर्ण सौन्दर्य-आनन्द की वृत्ति जब इसे समझ लेती है तो मनुष्य योगी बन जाता है और चिरन्तन ज्योति के अखिल सौन्दर्य को प्राप्त कर वह अपने अखिलानन्द रूप को प्राप्त करता है। सच्ची कला यही है; क्योंकि सौन्दर्य भी प्रकाशरूप ही है—उससे हमारी आँखें खुल जाती हैं। आँखें खुल जाती हैं,—कि हृदय खुल जाता है!

आनन्दस्फुरण-रूपिणी सौन्दर्यवृत्ति अध्यात्म है, कला उसकी अभ्यास-पद्धति है।

२

साहित्य के गुण

साहित्य जब साहित्य कहलाने लगा तो वह सामाजिक वस्तु बन गया। संसार में जिसे साहित्य के रूप में पहचाना जाता है वह तभी बनता है जब हमारी उक्ति एकाधिक व्यक्तियों का, अर्थात् वक्ता के अतिरिक्त श्रोता का भी, लक्ष्य रखती है। इसका अभिप्राय यह कि व्यक्तिगत आनन्दोद्गार को समाज ने अपने लिए स्वीकार किया तो उद्गारी के लिए भी समाज को स्वीकार करना स्वाभाविक हो गया। अब समाज में उद्गारी इस बात का भी लक्ष्य रक्खेगा कि उसके द्वारा की गई जीवन की आवृत्ति-आनन्द का उद्गार—समाज के लिए भी जीवन की पुनरावृत्ति हो और उसके आनन्द का हेतु बने। यहाँ, मालूम होता है कि, समवेदना—समाज के मानसिक बोझों के साथ अपने मानसिक बोझों का आरोप—कल्पना—की प्रतिष्ठा साहित्य में हो ही जानी चाहिए। यह स्वाभाविक पद्धति है। जीवन के सुखदुःखादिक में व्यक्तिगत रूप-वैविध्य के होते हुए भी उनमें अत्यन्त समानता भी है, और उनकी अनुभूति तो सर्वत्र एक ही है। रूप-वैविध्य से केवल अनुभूति की मात्रा पर असर पड़ सकता है अथवा व्यक्तिगत उद्गारों के ढँगों में विभिन्नता आ सकती है; परन्तु अनुभूति के जिस मूल तत्त्व की व्यंजना होगी वह सर्व-सामान्य ही है। इस बात को समाज ने समझा और फिर धीरे-धीरे कुछ ऐसे सर्व-साधारण प्रमुख अनुभूति-सूत्रों को ढूँढ लिया जिनको लेकर साहित्य सामाजिक बन सकता है। ये सूत्र बोझिल मानव-हृदय के कुछ चिरबन्धी भारतत्व हैं जिनकी अनुभूतियों को आठ-नौ स्थायी भावों के नाम से पुकारा गया है।

सामाजिक जीवन का रूप व्यवहार है। शुद्ध ऐकान्तिक आनन्दोद्गार व्यक्ति का साहित्य है और वह व्यावहारिकता का अपेक्षी नहीं है। परन्तु सामाजिक साहित्य व्यवहार की उपेक्षा कैसे करेगा ? फलत: समवेदना और कल्पना का युग्म, व्यक्ति-हृदय के बोझ के साथ उद्गीरक के हृदय के बोझ का आरोप कराता हुआ, समाजगत सम्बन्धों और व्यवहारों के साथ भी अवश्य तादात्म्य तलाश करेगा। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से वह आदर्शोन्मुख होगा, सामाजिक व्यवहारों की दृष्टि से यथार्थोन्मुख ! आदर्श और यथार्थ में से किसी की अतिरंजना न हो जाए, दोनों में सन्तुलित सामंजस्य रहे, इसका उत्तरदायित्व कल्पना और समवेदना के निजी सामंजस्य पर है। यह होगा तो साहित्य "कान्तासम्मिततयोपदेशयुक्" होगा और अपनी सामाजिकता की सार्थकता में समंजस 'व्यवहारविद्' होकर वह 'यशसे', 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' होगा।

जब तक साहित्य में सामंजस्य-गुण रहे तब तक 'आदर्श' और 'यथार्थ' शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता ही न पड़ी। परिस्थितियों के प्रभाव से जब सामंजस्य-गुणों का ह्रास हुआ तो एक या दूसरे की अतिरंजना में एक-दूसरे का विवाद आरम्भ हुआ और 'यथार्थवाद' तथा 'आदर्शवाद' जैसी दो चीजों की साहित्यिक उद्देश्यों में प्रतिष्ठा हुई। परन्तु इन दोनों के विवाद में यहाँ न पड़कर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि आनन्द और उद्गार—जीवन की पुनरावृत्ति के—मूल तत्त्वों की प्रतिष्ठा में सामाजिक यथार्थ व्यवहार की स्वाभाविकता तो अनिवार्य ही है।

और, सामाजिक जीवन में जब तक स्पर्धा (Competition) का भाव पैदा नहीं होता तब तक सामाजिक सम्बन्धों में नैसर्गिकता भी रहती है जिसमें आनन्दोद्गारवृत्ति सामाजिक-सम्बन्ध-सम्बन्धी किन्हीं अति कल्पित आदर्शों का आविष्कार नहीं कर पाती। ऐसा यदि वह करे तो व्यावहारिक जीवन की आवृत्ति नहीं बनती, क्योंकि फिर उससे

व्यवहार की स्वाभाविकता नहीं रहती, और फलतः आनन्दोद्गार आनन्दोद्गार नहीं रहता। अतः स्वाभाविकता में सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार को अक्षुण्ण रखती हुई हमारी आनन्दोद्गार-प्रकृति अपने प्राक्सामाजिक प्राकृतिक जीवन की संवेदनाओं को, उन्हें कौतुक से देखती हुई, सम्बन्धों के आदर्श में चरितार्थ करती है। यह कौतुकवृत्ति आनन्द की सहधर्मिणी और संवेदन तथा स्वाभाविक कल्पना की सहोदरा है और सद्यःपरनिर्वृत्ति में अत्यधिक सहायक होती है।

ध्यान रखना चाहिए कि कौतुक कौतुक ही है, उसकी कौतुकता में ही उसका निमित्त और उपादान है। अतः वह सामाजिक जीवन की पुनरावृत्ति में बाधक नहीं होता और, साथ ही, किसी अन्य अतिक्रान्त जीवनवृत्त की पुनरावृत्ति करता है। यह बात न होती तो हम बाजीगरों के खेल भी न देखा करते। साहित्य में इस प्रकार की कौतूहलवृत्ति को आजकल "रोमांस" (Romance) कहा जाता है, जो प्रारम्भिक युगों के सामाजिक साहित्य का आदर्श है। देखिए कि लगभग सब देशों का समस्त प्रारम्भिक साहित्य रोमांटिक दृष्टिकोण रखता है। वर्तमान युगों का सामाजिक-सम्बन्ध-सम्बन्धी आदर्शवाद सामाजिक कल्पना का सहोदर नहीं है, वह व्यक्ति की स्पर्धा की एक उपज है। इसलिए उसमें न तो जीवन-व्यवहार की स्वाभाविकता (पुनरावृत्ति) ही है और न रोमांस ही। वह आनन्द का मूल हेतु नहीं बन पाता और समाज द्वारा नहीं ग्रहण किया जाता, जिसकी प्रतिक्रिया में समाज में अतिरंजित यथार्थवाद की रचनाएँ होने लगती हैं। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के हिन्दी साहित्य में इस क्रिया-प्रतिक्रिया के काफ़ी उदाहरण मिलेंगे।

अब तक की विचारणा द्वारा जीवन की आवृत्ति को लेकर आनन्दोद्गार-स्वरूपी साहित्य के सहज (अर्थात् जीवनावृत्ति, आनन्द और उद्गार, की वृत्तियों से प्रतिफलित) गुणों की सूची में हमें जो तत्त्व प्राप्त हुए हैं—कल्पना, कौतुक (आदर्श) और स्वाभाविकता (यथार्थ)—उनके समायोग के लिए, उन्हीं के समाहार में, हम स्पष्टता (clarity और

frankness) का नाम भी ले सकते हैं। वस्तुतः स्पष्टता इन गुणों की निर्व्याजता की कसौटी है। जिस साहित्यिक कृति में उद्गार की स्पष्टता है उसमें उद्गार का प्रभाव (आनन्द का सान्निध्य) भी अवश्य रहेगा, जिसका मतलब यह होता है कि उसमें जीवनावृत्ति, संकल्प कौतुक और स्वाभाविकता के तत्त्व भी अवश्य होंगे।

यह स्पष्टता केवल व्याकृत वाणी पर ही निर्भर नहीं है। व्याकरण-सिद्ध वाक्य सामाजिक व्यवहार में सुकरता अवश्य उत्पन्न करते हैं; परन्तु बहुत-से अवसरों पर, विशेषतः उद्गार के अवसरों पर, अव्याकृत उक्तियों में ही अधिक बल दृष्टिगोचर होता है। उद्गार की मूल प्रणाली, लययुक्त वाणी या पद्यवाक्, अव्याकृत ही है। दैनिक व्यवहार की बातचीत में भी व्याकरण पर अधिक ध्यान कितने लोग दे पाते हैं। तब हमारे लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक साहित्य की स्पष्टता का रूप कल्पना, कौतुक और स्वाभाविकता के सहयोग में किस प्रकार निर्धारित होता है।

स्पष्टता का अर्थ तो सीधा है। दैनिक व्यवहार की बातचीत में भी हम पहली बात यह चाहते हैं कि हम जो कुछ कहें उसे सुननेवाला भले प्रकार, अर्थात् केवल शब्दार्थ के रूप में ही नहीं बल्कि हमारे मनोगत उद्देश्य के साथ, समझ सके। उदाहरण के लिए, कुम्हार का लड़का आपको बतलाता है कि घड़ा दो पैसे का है। निस्सन्देह उसके कथन में यह होना जरूरी है कि जिस घड़े को आप चाहते हैं उसी का मूल्य आपको बतलाया गया है, और वह मूल्य दो पैसा ही आपने घड़ेवाले के मुँह से समझा है। यह आश्चर्य करने की बात नहीं है कि इतनी छोटी और सादी बातचीत में भी कभी-कभी भ्रम पैदा हो जाता है। कुम्हार का लड़का किसी दूसरे ग्राहक से बात करता-करता, अथवा अपने व्यालू के टुकड़े की बात सोचता-सोचता, भूल से आपको किसी दूसरी वस्तु का भी मूल्य बतला सकता है, अथवा उसके कहने का ढँग कुछ ऐसा हो सकता है कि आप ठीक नहीं समझ पाते या, फिर, आपके सुनने में ही

कुछ त्रुटि रह जाती है। कुम्हार के लड़के को यदि अच्छा दुकानदार बनना है तो उसे चाहिए कि वह अपने विचारों को प्रसंगबद्ध रक्खे और ठीक मौकें पर, ठीक व्यक्ति से,ठीक परिमाण में, ठीक ढँग से बोले।

साहित्य की स्पष्टता के लिए साहित्यकार (उद्‌गारी व्यक्ति) को भी कुछ ऐसा ही करना पड़ता है शायद अधिक परिष्कार के साथ, क्योंकि उसे एक साथ एकाधिक व्यक्तियों से बोलना पड़ता है। सुननेवाले की सुनने की त्रुटि की जिम्मेदारी कुम्हार के लड़के पर नहीं है; परन्तु साहित्यकार के ऊपर यह जिम्मेदारी है। कुम्हार का लड़का जहाँ सुनने-वाले की गरज़ से बोलता है साहित्यकार वहाँ अपनी गरज़ से बोलता है। साहित्यकार का श्रेय इसी में है कि वह अपनी गरज़ को सुननेवाले की गरज़ बना दे।

साहित्यकार की गरज़ का अर्थ और कुछ नहीं, केवल उद्‌गारी का अपने मानसिक बोझ को दूसरों की सहानुभूति में हलका करना है। अपनी गरज़ को समाज की, श्रोताओं की, गरज़ बनाने का अर्थ होता है श्रोताओं की सामान्य रुचि को समझना (स्वाभाविकता) या फिर श्रोताओं में एक सामान्य रुचि पैदा करना (आदर्श)। समाज रूप सामू-हिक श्रोता का भी बोलनेवाले के लिए वही स्थान है जो कभी दरबारी कवियों के लिए "दरबार" का होता था। परन्तु "दरबार" अधिकतर एक व्यक्ति होता था, अतः दरबारी कवि को अपनी आजीविका के लिए उस एक व्यक्ति का दास बनना पड़ता था, जिसके कारण उसकी बोली उसके अपने बोझ का लिहाज़ शायद बिलकुल न कर पाती होगी और इसलिए सही उद्‌गार भी न बन पाती होगी। सामाजिक वक्ता एक व्यक्ति की रुचि का दास नहीं, पर समाज की व्यापक रुचि की वह अवहेलना नहीं कर सकता। इसीलिए हम देखते हैं कि संसार के साहित्य में शृंगारी रचनाओं का इतना अधिक बाहुल्य है।

स्थूल सामूहिक रुचि को देख लेना तो अधिक कठिन नहीं है। परन्तु जब सब कोई समूह-सम्बन्धी एक ही बात को एक ही तरह देखने लगते

हैं तो समूह की ग्राहिकावृत्ति में से संवेदना जाती रहती है—वह कुंठित सी होने लगती है। सुबह से शाम तक यदि आपसे एक के बाद एक, असंख्य व्यक्ति बराबर कहते रहें कि आप तो बड़े सुन्दर हैं तो क्या अन्तिम, या मध्य के भी, कहनेवाले के शब्दों का कोई अर्थ आप ग्रहण कर सकेंगे ? और यदि कर भी सकेंगे तो क्या उसी तरह जिस तरह सर्वप्रथम कहनेवाले के अर्थ को आपने ग्रहण किया था ? दूसरे शब्दों में, इन बाद के कहने वालों के शब्द आपके लिए अस्पष्ट हो उठेंगे। यह अस्पष्टता साहित्य की वही निर्गुणता है जिसके कारण, किसी भी हेतु से, कहनेवाले की बात को हम उसके पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण नहीं कर पाते। भारत के रीतिकालीन कवियों का शृंगार श्रोता की रतिग्राहकता के सात्विक उद्दीपन में समर्थ नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिकता मानवता, मानवीय हृदयपरता, का प्रतिबन्ध है। परन्तु मानवता सामाजिकता का विस्तार है। लोकरुचि की दासता एक बात है और अपने उद्गार को लोकरुचि का अनुमोदी बनाना दूसरी। रीतिकालीन कवियों या अन्य चवन्नी-कथकों ने श्रोता की गरज़ को अपनी गरज़ बनाया, अपनी गरज को श्रोता की नहीं। कुम्हार का लड़का भी शायद इस बात को समझता होगा कि घड़ा खरीदनेवाले की गरज़ का केवल दास बना रह कर वह हर समय उसे घड़ा नहीं देता रह सकता। परन्तु कुम्हार के लड़के में यदि सौन्दर्य-उद्गार (कहने की गरज, आनन्दोद्गार) की वृत्ति है तो उसके द्वारा वह घड़ा खरीदनेवाले की गरज़ का अनुमोदन करता हुआ भिन्न-भिन्न प्रकार के सुराही-गिलास-आदि बाद में भी उसे दे सकता है। इसी भाँति यदि साहित्यकार के पास सात्विक उद्गार हैं तो समाज की सीमाओं का आदर करता हुआ भी वह मानवता के विस्तारी अधिकार से उन सीमाओं को विस्तृत भी कर सकता है, समाज की रुचि को नए ढँग से ढाल भी सकता है। तुलसीदास और "प्रसाद" ने लोकरुचि की अवहेलना नहीं की। परन्तु वे उसे ढाल सके, या कहिए कि उन्होंने उसके

मूल प्रवाह का ध्यान रखते हुए, अपने उद्गार और लोकरुचि को परस्परानुमोदी बनाते हुए, मौक़े से उसमें से नहर काटी है। अपनी गति पाकर वह नहर यदि मूल प्रवाह से अधिक वेगवती और मनोहारिणी बन जाए तो नहर काटनेवाला बधाई का पात्र है। सारांश यह है कि सामाजिक रुचि की विस्तारशील व्यापकता में वक्ता के निजी बोझों और उद्गारों के लिए उस हद तक पूरी गुंजाइश है जिस हद तक वे समाज के व्यापक, मानव-सामान्य, बोझों के अनुमोदी हैं। मानवता और सामाजिकता की निरन्तर पारस्परिक प्रतिक्रिया में इन दोनों का निरन्तर नवीन संगठन होता रहता है, जिसमें व्यक्तिगत उद्गार को अपनी शक्ति से नहर काटने के लिए प्रायः अवसर मिलता रह सकता है। और इसी नहर काटने में नवीनतर संगठनों की वास्तविकता का प्रतिरूपण भी देखा जा सकता है। आदर्श और यथार्थ का यह मनोहर सम्मिलन है।[1]

---

1 लहर, मार्च-अप्रैल, सन् १९४८

३

शिक्षा और संस्कृति

जीवन के भीतर शिक्षा और संस्कृति की सापेक्ष स्थिति के ऊपर दृष्टि जाने पर ऐसा अनुमान होता है कि शिक्षा, जिस रूप में कि हम उसे देखते-समझते आ रहे हैं, उतनी अधिक मौलिक वस्तु नहीं है जितनी कि संस्कृति। मानव समाज में शिक्षा और शिक्षा के रूपों को किन्हीं लक्ष्यों को सामने रख कर ढाला जाता रहा है। परन्तु संस्कृति जीवन की किन्हीं प्राचीनतम परिस्थितियों और आवश्यकताओं में स्वतः विकसित होकर अपने मौलिक तत्त्वों की किसी प्रकार की परम्परा बना लेती है जिन्हें बाद की बदलनेवाली परिस्थितियों में भी वह यथाशक्ति क़ायम रखने की चेष्टा करती रहती है। शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्नों के निर्णय में मनुष्य के संकल्प और विकल्प का हाथ रहता है। विकल्पमूल संकल्प द्वारा वह उसके रूप और गति-विधि को बदल सकता है। परन्तु संस्कृति की निजी मौलिकता और सहजता के कारण उसके प्रति हमारा मोह होता है। यदि संस्कृति और शिक्षा को हम मानवीय सम्बन्धों की तुला में रख कर देखना चाहें तो शायद यह कह सकते हैं कि मानव जीवन में संस्कृति का स्थान यदि माता-पिता का सा है, जो स्वतः सम्भूत है और जिनके प्रति हमारा मोह होना स्वाभाविक है, तो शिक्षा सम्भवतः प्रेयसी या पत्नी के समान है जो उद्देश्यों के हेतुओं से बदली या त्यागी जा सकती है। माता-पिता को बदलने के कोई अपवाद यदि कहीं देखने में आते हैं तो उनको हम जीवन स्वभाव तो नहीं मानते; और ऐसे अपवादों का हेतु प्रायः सांस्कतिक न होकर कोई दूसरा ही होता है।

मनुष्य के नाते यदि हम इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लें तो संस्कृति और शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध सास-बहू का सम्बन्ध हो जाता है। "संस्कृति" शब्द के व्याकरणिक लिङ्ग का कोई आग्रह न हो तो "सास" के स्थान में "सास-ससुर" ही कह दीजिए। माता-पिता जिस प्रकार कुल-मर्यादा की अनुरूपता में पुत्र के हित का लक्ष्य रखते हुए वधू पसन्द करते हैं उसी प्रकार हमारी संस्कृति अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप हमारे हित का समन्वय करती हुई हमारी शिक्षा का विधान करती है। यह बात अलग है कि नाई-बारियों अथवा अन्य स्वार्थपूर्ण बाहरी प्रभावों के कारण वधू और शिक्षा मनोनीत ढंग की प्राप्त न हो पाए। ऐसी परिस्थिति में यदि सास-ससुर निर्बल चरित्र के होते हैं तो बहू उन पर हावी हो जाती है; अन्यथा या तो उसका तिरस्कार होने लगता है या, व्यावहारिक तिरस्कार न करते हुए भी, हम उसकी ओर से सतर्क रहने लगते हैं या उदासीन हो जाते हैं।

सास-ससुर और वधू के रूपक को, यदि चाहें तो, और आगे भी घटित किया जा सकता है। पर उसकी आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त सम्बन्ध-कल्पना द्वारा शायद इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारी शिक्षा का आधार हमारी संस्कृति है अथवा होनी चाहिए; शिक्षा संस्कृति का आधार नहीं हो सकती।

शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति से है या समाज से ? शिक्षा ग्रहण करने वाला तो व्यक्ति ही होता है पर आजकल जब हम शिक्षा की चर्चा करते हैं तो हमारी अन्तश्चेतना में समाज ही उपस्थित रहता है। समाज के भीतर व्यक्ति से व्यक्ति के सम्बन्ध को ध्यान में रख कर ही शिक्षा का प्रश्न बनता और हमारे लिए विचारणीय होता है। जिस व्यक्ति से हम अपने समाज का दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं मानते उसके कारण अपने लिए शिक्षा की एक समस्या खड़ी करने का हम कष्ट नहीं करेंगे और समाज को, सामाजिक व्यक्ति को, दी जाने योग्य शिक्षा का विधान बनाने वाला भी तो समाज ही है। इस बात से भी शिक्षा और संस्कृति के आधार-सम्बन्ध

के उस उत्तर का समर्थन होता है जो सास-बहू की सम्बन्ध-कल्पना से अभी हमको मिला था।

समाज छोटे से छोटा भी हो सकता है और बड़े से बड़ा भी। "मारवाड़ी समाज", "गुजराती समाज", या "ब्राह्मण-समाज", "वैश्य-समाज" आदि शब्द कहने के हम अभ्यासी हैं; परन्तु कभी-कभी "हिन्दू-समाज", "मानव समाज" जैसे शब्दों का भी प्रयोग कर लेते हैं। अपने क्षुद्र रूपों में समाज किसी बृहत्तर समाज के वर्गों, छोटे टुकड़ों, का पर्याय बन जाता है; परन्तु अपने बृहत् रूप में क्या वह किसी ऐकान्तिक विशालता को निरन्तर व्याप्ति का प्रतीक भी बन पाता है? "हिन्दू-समाज" या "मानव समाज" कहने में काल-सम्बन्धी अव्याप्ति तो प्रतीत होती ही है। वर्तमान समय में यदि हम "हिन्दू-समाज" शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसकी व्यंजना अधिकतर वर्तमान समय के हिन्दू-समाज की ही होती है। "हिन्दू-समाज" की अपेक्षा "हिन्दू-जाति" समय की दृष्टि से, और देश की दृष्टि से भी, अधिक व्यापक मालूम होता है। तो फिर, ऐसी दशा में हम यह भी मान सकते हैं कि समाज जाति का एक अंग है। साथ ही, फिर, हम यह भी क्यों न मान लें कि क्षुद्र जातियाँ भी कभी-कभी किसी बड़ी जाति का अंग हो सकती हैं और, इस नाते, ब्राह्मणादि जो जातियाँ हैं वे हिन्दू-जाति का अंग हैं, और जो हिन्दू-जाति है वह मानव जाति का अंग है। और इस सब दर्शन के निष्कर्ष में इतना और भी मान लेने में कोई कठिनाई नहीं दीखती कि समाज का सम्बन्ध वर्तमान से है, जाति का त्रिकाल से।

प्रत्येक क्षुद्र समाज या जाति में उसकी क्षुद्रता-सम्बन्धी विशेषताएँ भी होंगी और उसके विशाल अंगियों की सामान्यताएँ भी होंगी। विशेषताएँ वर्तमान परिस्थितियों की आवश्यकताओं से उद्भूत होकर वर्तमान-परिस्थिति-जन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही उन्मुख होती हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन से विशेषताएँ भी बदली जा सकती हैं; परन्तु विशालता क्षुद्र परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती और उसमें परिवर्तन

बड़ी आसानी से नहीं हो जाते। पिछले दो सौ वर्षों में भारत और संसार की प्रवृत्ति और प्रगति में जितने और जैसे परिवर्तन हुए हैं विश्व की प्रगति में कदाचित् उतने और वैसे नहीं हुए।

इस प्रकार कोई भी तथाकथित समाज न तो हमको स्थायी ही दीखता है और न वह अपने आप में सम्पूर्ण, स्वतन्त्र, ('absolute') ही है। हमारी शिक्षा का सम्बन्ध यदि समाज से ही है तो, इसी हेतु से उसका, सम्बन्ध जाति से भी है। समाज अपने सामाजिक की शिक्षा का विधान अपने ही हित के लिए करता है और इस स्वहित-साधन में वह सामाजिक व्यक्ति का भी हित करता है—सामाजिक व्यक्ति को अपने हित-योग्य बनाने के लिए ठीक ढँग से जीवित रहने की समर्थता देकर। और, समाज का अपना हित अन्ततः उसका केवल अपना ही नहीं बल्कि अंगी जाति का भी हित है। इस भाँति, शिक्षा के अभी तक केवल दो ही उद्देश्यों को मैं समझ पाया हूँ—जीवन-संघर्ष में व्यक्ति को सुख-पूर्वक आत्म-निर्वाह करने योग्य बनाना और, उसके द्वारा समाज तथा जाति की परम्परा और मर्यादा को क़ायम रखना। पहला उद्देश्य शुद्ध भौतिक है और वर्तमान से सम्बन्ध रखने वाला है, दूसरा अभौतिक है और त्रिकाल-सम्बन्धी है।

समाज और जाति की मर्यादा-परम्परा को क़ायम रखना व्यक्तिगत और सामाजिक विशेषताओं को जातीय सामान्यता में परिणित करके उसकी रक्षा में सचेष्ट रहना—हमारी शिक्षा को सांस्कृतिक बनाता है। सामान्यता-समानता ही तो संस्कृति है। "हिन्दू हिन्दू समान है" यह हिन्दू-संस्कृति का बीज है, "मनुष्य मनुष्य समान है" यह मानव संस्कृति का मूल है।

परन्तु "समान हैं" क्या यों ही कह दिया जाता है? केवल उत्तर-दायी व्यक्ति, उत्तरदायी समाज, ही ऐसा कहने का अधिकारी है। जो उत्तरदायी व्यक्ति या समाज समानता की बात कहेगा वह समानता में विश्वास भी करता होगा, वह समानता को विचार में और आचरण में

सिद्ध भी कर सकेगा। जो इस प्रकार सिद्ध नहीं कर सकता उसका विश्वास मिथ्या है, उसका कहना एक प्रवंचना है।

समानता की सिद्धि अध्यात्म है; समानता का आचरण अध्यात्म का आचरण है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह दीजिए कि अध्यात्म ही मानव संस्कृति है और जिस जाति या व्यक्ति की आध्यात्मिक गति जितनी ही गहरी है उतना ही अधिक वह सांस्कृतिक हमारी शिक्षा का उदय और उद्देश्य यदि सामाजिक है—सामाजिक ही है, हम देख चुके हैं—तो हमारी शिक्षा का मौलिक रूप सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, होगा ही होगा।

यहाँ शायद यह समझा जाए कि मैं एक अव्यावहारिक सिद्धान्त की, आदर्श की, बात कह डालने के शिष्टाचार का पालन कर रहा हूँ। सम्भव है यह किसी अंश में सच हो, परन्तु सच यह भी है कि मैं स्वयं आदर्शवादी नहीं हूँ। मैं अध्यात्मवादी हूँ, परन्तु आदर्शवादी नहीं। मैं देख रहा हूँ कि जिस तरह के आजकल के समाज बन गए हैं उनमें आध्यात्मिक शिक्षा की कल्पना तक अव्यावहारिक है। आजकल के क्षुद्र समाज—यथा ब्राह्मण-समाज, कायस्थ-समाज, वंग-समाज, गुजराती समाज, आदि—अपने अंगियों को भूल गए हैं। एकमात्र अपनी विशेषताओं की तरफ़ ही जागरूक रह कर वे, विशाल मानवता को क्या, हिन्दुत्व तक को भूल चुके हैं। इस एकपक्षीय जागरूकता में यदि उन्हें सांस्कृतिक शिक्षा दी भी जाएगी तो उसका दुरुपयोग ही होगा। इसके प्रमाणों की हमारे शिक्षा-जगत् और साहित्य-जगत् (जो शिक्षा की साधन-भित्ति है) में कमी नहीं है।

ऐसी दशा में सच्चे शिक्षार्थी को लौकिक सामाजिक शिक्षा के कोल्हू में पड़ते हुए भी अपनी शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ग्रहण करना पड़ेगा। इस शिक्षा के लिए वह ग्रन्थों का अवलोकन करे या न करे, गुरुओं के पास बैठे या न बैठे, जीवन और जीवन का संघर्ष स्वयं उसको वह शिक्षा देने का काम कर लेगा। जीवन जो शिक्षा उसे देगा उसमें वह जीवन के यथार्थ रूप को भी थोड़ा-बहुत अवश्य पहचानेगा। और,

जीवन क्या है। भौतिक और आध्यात्मिक का संघर्ष और समन्वय। भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों ही प्रकार की शिक्षाएँ वस्तुतः मिलती ही जीवन से हैं। हमारे और सब जातियों के प्राचीन अध्यात्म-द्रष्टाओं ने अपने अध्यात्म को जीवन से ही सीखा था, और इस प्रकार संस्कृतियों की नींव डाली थी।

जीवन से प्राप्त होनेवाली यह शिक्षा सब के लिए समान रूप से खुली है; और ऐसा भी नहीं है कि व्यक्ति उसे ग्रहण न कर रहा हो। जानते, न जानते, वह उसे ग्रहण करनी ही पड़ती है। यदि यह बात है तो हम उसे जान कर ही क्यों न ग्रहण करें।

तब, इस भाँति, हमारी शिक्षा के दो रूप बन जाते हैं—समाज-प्रदत्त ऐच्छिक शिक्षा, और जीवन-प्रदत्त अनैच्छिक तथा अनिवार्य शिक्षा। पहले प्रकार की शिक्षा में क्षुद्र-वर्गीय विशेषताओं की संकीर्णता हो सकती है; परन्तु दूसरी शिक्षा जहाँ एक ओर सामाजिक विशेषताओं के बीच हमको संघर्ष के योग्य बनाने का प्रयत्न करती है वहीं, दूसरी ओर, वह मानवीय जीवन का निकटतम परिचय कराती हुई हमको उसकी सदाशयता, सर्वसामान्यताओं का भी पाठ पढ़ाने की सच्ची सामर्थ्य रखती है। जीवन से मिलनेवाली यह शिक्षा संस्कृति की भी जन्म-दात्री है।

जीवन की व्यक्तिप्राप्य शिक्षा और समाज की सामाजिकप्राप्य शिक्षा, दोनों ही, इस प्रकार संस्कृति से बँधी हुई हैं—एक संस्कृति की जन्मदात्री होकर, और दूसरी संस्कृति की सन्तति बन कर। बस, इतना ही इस समय मेरी समझ में आता है।

अखिल-भारतीय कुमार-साहित्य सम्मेलन, जोधपुर, में "शिक्षा और संस्कृति परिषद्" के सभापति-पद से दिए गए भाषण का अंश।

४

जीवन और साहित्य

जीवन और साहित्य के अन्योन्य भाव की जिज्ञासा बहुत-कुछ स्वाभाविक है और, इसलिए, पुरानी भी है। मर्त्यों को नाट्यवेद का उपहार दिये जाने की हेतु-कथा में इस जिज्ञासा और उसके समाधान का मूल दिखाई दे सकता है। काव्य को "व्यवहार-विदे" बतलाने में जीवन और साहित्य का संकुचित सम्बन्ध बन जाता है, पर "सद्यःपरनिर्वृति" में उस सम्बन्ध की मौलिक चरमता झलकती है।

आधुनिक समय में जीवन और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रत्यक्ष ढँग से कहनेवाला एक अंग्रेज़ आलोचक हुआ है जिसके वाक्यों का अनुवाद करके हिन्दी वालों ने हमें बतलाया है कि "कविता जीवन की व्याख्या है "अथवा" कविता जीवन की, जीवन से और जीवन के लिए है।' यह पहली बार हमने कविता या साहित्य की तुला में 'जीवन' शब्द का प्रयोग देखा।

जीवन

जीवन और साहित्य की परस्पर अपेक्षा की इस परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष जिज्ञासा में जहाँ आचार्यों ने साहित्य के विषय में बहुत-कुछ कहा है वहाँ जीवन के विषय में कुछ बतलाने की उन्होंने तत्परता नहीं दिखलाई। घोर अर्थवाद से प्रपीड़ित वर्तमान स्पर्धा-युग के बहुत से साहित्यकारों ने जीवन को भूख और 'सेक्स' (मिथुन-भाव) की दो-मात्र मूल सहज-वृत्तियों (Instincts) के रूप में देखा है। साहित्य में—मतलब भाव-साहित्य अर्थात् गद्य-पद्यात्मक काव्य-साहित्य से है—जीवन के स्वरूप को

सक्रिय उत्साह के साथ व्याख्यात करने की यह शायद प्रथम चेष्टा है, जिसने धीरे-धीरे बहुत कुछ एक सम्प्रदाय का सा रूप धारण कर लिया है। यहाँ हलका-सा प्रश्न यह हो सकता है कि इस चेष्टा के पहले क्या साहित्य नहीं था, अथवा जीवन नहीं था, अथवा भूख और 'सेक्स' नहीं थे ? था तो शायद सभी कुछ, पर भूख और सेक्स ने जीवन के रूप को इतना स्वायत्त नहीं किया था।

रोटी (भूख)-वादियों और मिथुन (सेक्स)-वादियों का कोई विरोध करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। साहित्य की दो वर्तमान प्रवृत्तियों के साद्य में प्राणिमात्र की दो मूल सहज-वृत्तियों के माध्यम से जीवन-व्याख्या के अधिक सन्निकट आने का हमारा प्रयास है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राणिमात्र की समस्त प्रगति, उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूपिणी समस्त चेष्टाएँ, इन्हीं दो मौलिक वृत्तियों के प्रतिफलन के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, जिससे भ्रान्ति होना सम्भव है कि ये दो वृत्तियाँ ही मिल कर जीवन को स्वरूप प्रदान करती हैं। परन्तु वास्तव में भूख और सेक्स जीवन का स्वरूप नही हैं; वे जीवन की प्रतिक्रिया हैं।

जीवन का स्वरूप है आत्माभिव्यंजन जो आत्म (स्थिति) रक्षा (Self-preservation) और वंश (स्थिति) रक्षा (Preservation of Species) की प्रणाली को ग्रहण कर भूख और मिथुन-भाव को जन्म देता है। इस आत्माभिव्यंजन को, दूसरे शब्दों में, आत्म-विकास, आत्म-प्रसार, आत्म-विस्तार या आत्म-निर्णय भी कह लिया जा सकता है। अंग्रेजी में इसे (Self-Assertion) या (Self-Determination) कहना उचित होगा। यह आत्माभिव्यंजन चेतन का स्पष्टीकरण है और विकास-मात्र का रहस्य है। प्राणी एक क्षण के लिए भूख और सेक्स-भावना का संवरण कर सकता है, परन्तु उसका आत्माभिव्यंजन एक क्षण के लिए भी बन्द नहीं होता। विकास की आदि-हेतु बन कर अभिव्यंजन-वृत्ति हिन्दुओं की चौरासी लाख योनियों की कल्पना (या गवेषणा !) के मूल में स्थित है। आधुनिक विकास-वाद की चर्चा में शास्त्रियों के मुख से हम

सुनते हैं कि आत्म (स्थिति) रक्षा के संघर्ष (Struggle for Existence) में अपनी नई-नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने की चेष्टा करता हुआ प्राणी अपने शरीर में नए-नए अवयवों का उपार्जन करता जाता है। इस प्रकार छत्तीस पीढ़ी पहले की जेली-फ़िश (Jelly-Fish, किसी प्रारम्भिक अवस्था की श्यानावयव मछली) विकास की पैंतीस अवस्थाओं में की होकर नए-नए अवयवादि का संग्रह करती हुई छत्तीसवीं अवस्था में मनुष्य बन जाती है। हम तो जीव की आदिम अवस्था से मनुष्य बनने तक की चौरासी लाख अवस्थाएँ मानते हैं। विकासवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त में हमारा विश्वास है और चौरासी लाख योनियों वाली गवेषणा में भी।

यह जो नए-नए और नाना अवयवों के उपार्जन की कहानी है सो मूलतः चित्पुरुष के—(जो प्रकृति के सम्पर्क में आकर जीव-पुरुष बन गया है और प्रकृति-प्राप्त परिमितियों में अपने रूप-प्रसार को अवरुद्ध पाता है) अपने को अधिकाधिक व्याप्त, अधिकाधिक अभिव्यक्त, अधिकाधिक assert करते रहने की अनवरत चेष्टा की ही तो कहानी है, चित्पुरुष क्यों और कैसे जीवोपाधि धारण कर लेता है, यह एक भिन्न प्रसंग है जो यहाँ अप्रयोजनीय है।

आत्माभिव्यंजन की कहानी में सबसे अद्भुत और निर्णायक-जैसी एक शृंखला तब प्राप्त होती है जब मानवावस्था में रसनेन्द्रिय वागिन्द्रिय भी बन जाती है। भौतिक-शारीरिक विकास—अर्थात् नई-नई आवश्यकताओं के साथ-साथ नए-नए शरीरावयवों और इन्द्रियों के विकास—के नाते यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मनुष्य बनने की समकालिकता में ही उसकी रसनेन्द्रिय वागिन्द्रिय भी कैसे बन गई। रसनेन्द्रिय का वागिन्द्रिय बनना, ध्वनिमात्र का वाणी और भाषा के रूप में विकास हो जाना, किस आवश्यकता, (पूछा जाए कि किस भौतिक आवश्यकता) की पूर्ति के लिए हुआ? वाणी का आविर्भाव भूख और सेक्स की कायिक-भौतिक आवश्यकता को अतिक्रान्त करके हुआ है।

अपने भौतिक संघर्ष में विजयी होने पर भी जब चेतन अपने पूर्ण अभिव्यंजन में सफल नहीं हो पाता है तो वह वाणी द्वारा अपने को Assert या अभिव्यक्त करता है। वाणी या ध्वनि द्वारा अभिव्यंजन की प्रक्रिया निम्नतर जीवावस्थाओं से ही आरम्भ हो जाती है, परन्तु मानवावस्था में उसे संकल्प-विवेक की पूर्ण परिणति (भाषात्व के रूप में) प्राप्त होती है।

साहित्य

वाणी के आविष्कार में आत्माभिव्यंजन का परम संकल्प है। मनुष्य-योनि में सहज-वृत्ति (instinct) की अवस्था को पार कर संकल्प के परिणाम द्वारा आत्माभिव्यंजनरूपिणी जीवनवृत्ति वाणी (भाषा) का रूप धारण करके साहित्य बन जाती है। दूसरे शब्दों में, मानवत्व-प्राप्त प्राणित्व आत्मरक्षा की प्रक्रिया में सामाजिक बनता हुआ, विवेक और संकल्प की अर्चना-अर्जना से स्फीततर होते हुए आत्माभिव्यंजन सामर्थ्य का वाक्- संस्कार कर साहित्य को जन्म देता है। मैथ्यू आर्नल्ड के हम आभारी हैं कि उसने अति खुले शब्दों में साहित्य को जीवन के सन्निकट रख दिया। परन्तु जीवन का नैकट्य प्राप्त करके भी साहित्य जीवन से भिन्न ही एक वस्तु रहता है। यहाँ हम देखते हैं कि जो साहित्य है वह आत्माभिव्यंजन-रूप जीवन से इतर कोई वस्तु नहीं है। साहित्य, बस, शुद्ध आत्माभिव्यंजन ही आत्माभिव्यंजन है, और कुछ नहीं। और, हमने देखा, जीवन भी केवल आत्माभिव्यंजन ही है। इस रूप में साहित्य और जीवन एक हो जाते हैं। यह बात दूसरी है कि आत्माभिव्यंजन और साहित्य, दोनों ही, इन्द्रियों की परिमिति से आक्लिन्न हैं; परन्तु जितना-सा इन्द्रिय-बोध्य जीवन-स्वरूप हमारे सामने आ पाता है उसके साथ इन दोनों की समकक्षता में सन्देह करने का कोई बड़ा कारण नहीं दिखाई देता। इसीलिए साहित्य के रूपों का विकास भी जीवन के रूपों के विकास के साथ ही साथ होता चलता है। साहित्य की समस्त प्रक्रिया ही जीवन की प्रक्रिया की समानान्तर-सी

चलती हुई दृष्टिगोचर होती है।

जीवन-साहित्य का विकास-क्रम

जीवन-व्याप्तिके दृष्टिकोण से साहित्य के हमें तीन रूप मिलते हैं— स्फुट (या गीति-) काव्य, महाकाव्य और खंड-काव्य। इन तीनों रूपों का क्रमशः विकास हुआ है। जीवन ने भी इन तीन रूपों के समकक्ष तीन अवस्थाओं का विकास किया है। इन तीन अवस्थाओं को हम, समझने के लिए, स्फुट (या क्षण-) जीवन, वृहत् या विशाल जीवन और खंड-जीवन कह सकते हैं। जीवन के ये तीन रूप भी क्रमशः विकसित हुए हैं।

जीवन का आदि मौलिक रूप हमें ऐकान्तिक दिखाई देता है और वह केवल वर्तमान में, कुछ क्षणों के भीतर ही, (अथवा क्यों न कहें, क्षणमात्र में), व्यवसित होता है। पशु-जीवन क्षण-जीवन ही है, जिसमें "वर्तमान" (क्षण) के आगे की भावना नहीं है; और वह ऐकान्तिक है। उसमें प्रदान का भाव विशिष्ट नहीं है। पशुत्व आदान-विशिष्ट है, मनुष्यत्व आदान-प्रदान-विशिष्ट। मानवावस्था में आत्मरक्षा की वृत्ति जब वर्तमान के साथ-साथ उससे आगे भविष्य की ओर भी देखने लगती है तो संकल्प-विवेक की प्रक्रिया द्वारा आदान के साथ-साथ प्रदान की भी वृत्ति विकसित होकर समाज और सामाजिक सह-योग-व्यवहार या बीजारोपण करती है। यहाँ से जीवन की ऐकान्तिक और "वर्तमान"-गत प्रवृत्ति-चर्या में उसके साथ ही साथ अनेकान्तिकता (अर्थात् पारस्परिकता) और भविष्य-कल्पना का तत्त्व आ मिलता है। अतः जीवन को अब हम दो रूपों में देखते हैं (१) वर्तमान-निष्ठ ऐकान्तिक क्षण-जीवन और (२) भविष्यनिष्ठ सामाजिक (परम्परित अथवा दीर्घ या) विशाल जीवन।

जीवन के ये दो रूप —अथवा इन्हें जीवन का द्विविध पार्श्व कहना अधिक उचित होगा—आत्माभिव्यंजन बन कर हमें गीतिकाव्य और महाकाव्य के साहित्यक नामों में दिखाई देते हैं। क्षण-जीवन का क्षणा-

भिव्यंजन अथवा क्षणोद्‌गार अपने स्वभाव में ऐकान्तिक है, वह परापेक्ष नहीं। संकल्प और पारस्परिकता का उदय होने पर वह परापेक्षो बना लिया जाए, यह बात दूसरी है। अपने शुद्ध स्वभाव में वह अनैच्छिक है, संकल्प से वेष्टित होकर वह ऐच्छिक भी हो जाता है। अनैच्छिकता में उसकी ऐकान्तिकता है; ऐच्छिकता में अनेकान्तिकता, परापेक्षिता, आ सकती है। गीतिकाव्य क्षण-जीवन का क्षणाभिव्यंजन-रूप ऐकान्तिक काव्य होता है। परन्तु भविष्य-कल्पना-कलित आदान-प्रदान-विशिष्ट क्षणातिक्रान्त परम्परित जीवन पारस्परिकता, सामाजिकता, पर निर्भर होता हुआ अपने अभिव्यंजन-रूप में भी परापेक्षी होगा। "महाकाव्य" नाम से जिस जीवन का हमें दर्शन होता है वह असंख्य क्षणों की परम्परा में, अनैकान्तिक व्यक्तियों के सम्बन्धों का—व्यक्तिमात्र के आत्मलीन निःसंग अन्तर्भावका नहीं–ताना-बाना बुनता हुआ देश और काल की अनिर्दिष्ट सीमाओं में अपना विस्तार करता है। जीवन की यह व्याप्ति, आदान-प्रदान की नींव पर खड़ी होने के कारण, व्यक्तिमात्र की सम्पत्ति नहीं रहती, वह परापेक्षी होती है और महाकाव्य सामाजिकता (पारस्परिकता) की वस्तु बनता है। अपने आदि-कवि में हम देख सकते हैं कि जहाँ एक ओर "मा निषाद" वाली पंक्ति उसके क्षण-जीवन की क्षणाभिव्यक्ति है वहाँ, दूसरी ओर, रामायण विशाल-दर्शी परापेक्ष जीवन की परापेक्ष अभिव्यक्ति है। यह कहना बड़ी अत्युक्ति न होगा कि रामायण यदि महाकाव्य है तो "मा निषाद..." अपने तात्त्विक रूप में गीतिकाव्य।

व्यक्ति से समाज का विकास हुआ है, ऐसा कहने में व्यक्ति की ऐकान्तिकता और उसकी अभविष्य-दर्शी क्षण-व्यवसायिता (जिसे हम बहुत से पशुओं में और बहुत छोटे शिशुओं में देख सकते हैं) मौलिक तत्त्व ठहरती है। परापेक्षिता (पारस्परिकता)—आदान-प्रदान-आश्रित भविष्यदर्शी परम्परानुबद्ध सामाजिकता—उसके बाद का परिणाम है। साहित्य-जीवन में भी यही क्रम देखने में आता है। मानवता का

प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य, ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाएँ, गीतिकाव्य हैं। बाद में, जब जीवन की ऐकान्तिकता अधिकाधिक पारस्परिकता में प्रसार करती हुई किसी कोटि के सामाजिक संगठन को प्राप्त कर लेती है तो हमें रामायण महाकाव्य के दर्शन होते हैं।

समाज के विस्तार पाने और व्यक्ति के आत्मरक्षा की समस्या पर अधिकाधिक आश्वस्त होते चलने के परिणाम में उसकी भविष्य-कल्पना भी विस्तार करती चलती है। अपनी भावी जीवनस्थिति के लक्ष्य से हम जिस या जितने भविष्य की कल्पना करके प्रारम्भिक सामाजिकता में अग्रसर होते हैं उसके अवधि-परिमाण में, हमारे समाज और सामाजिक जीवन के साथ-साथ, अधिकाधिक दीर्घता (विशालता) का आरोप होने लगता है। यह स्वाभाविक है कि अति प्रारम्भिक अवस्था में यह भविष्य कल्पना अनिश्चित, अनिर्दिष्ट, रही होगी; बाद में मनुष्य ने, कह लीजिए, सौ वर्ष जीने की कल्पना की; तदुत्तर सामाजिक प्रसार में आत्म-रक्षा की भावना कुटुम्ब-रक्षा, जाति-रक्षा, देश-रक्षा आदि की भावनाओं में अपना विस्तार करती हुई हमारी भविष्य-कल्पना को शताब्दियों तक की विशालता प्रदान कर देती है।

विशालता जब दीर्घ से दीर्घतर होती हुई दुष्प्रमेय, अप्रमेय, हो चलती है तो वह दुर्बोध, दुर्ग्राह्य, भी होने लगती है। तब हम उसे खंडों के रूप में समझने की चेष्टा कर सहज-ग्राह्य बनाते हैं। ये खंड पहले से दीर्घतर विस्तार की प्रक्रिया में स्वयं स्वतंत्र इकाइयाँ बनते हैं। बाद में, उसी प्रक्रिया में दीर्घतर होनेवाली विशालता के खंड बन जाते हैं। स्थानावकाश में गज़, फ़र्लांग, मील क्षुद्र विशालता की उस समय तक स्वतंत्र इकाइयाँ हैं जिस समय तक हमारी प्रगति इन्हीं तक सीमित रहती है। परन्तु यहाँ से कलकत्ता या बम्बई तक के अवकाश की दुष्प्रमेयतापूर्ण इकाई के रूप में गृहीत नहीं हो पाती तो हम उसे खंडशः समझने की चेष्टा में कहते हैं—"कलकत्ता (या बम्बई) एक हज़ार मील है।" मील को फ़र्लांगों और फ़र्लांग को गज़ों में, या फिर रुपये को

आने-पैसों द्वारा तथा सेर को तोला-छटाँक से समझने का भी यही हेतु है। गिनती के आविष्कार का मूल यही खांडिक बुद्धि है। समय की विशालता दुष्प्रमेय होकर दिन, महीना, वर्ष आदि के खंडों द्वारा सुबोध बनती है। जीवन सम्बन्धिनी भविष्य-कल्पना भी अपनी सम्पूर्णता में दुर्ग्राह्य होकर जीवन-व्यवहार में खंडशः व्यवसित होने लगती है। जीवन-भर की आजीविका की भावना को लेकर मैं निर्दिष्ट रूप में सौ रुपये प्रति मास की नौकरी करता हूँ और एक महीने के वेतन और एक-एक दिन के काम में अपने को व्यस्त पाता हूँ। दीर्घ भविष्य में हाई-कोर्ट का जज बनने की सुख-कल्पना कर इस समय दो वर्ष के लिए मैं वकालत-परीक्षा की तैयारी में तल्लीन हूँ। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि वकालत-परीक्षा की व्यस्तता का सम्बन्ध मेरी सुदूर सुविशाल भविष्य-कल्पना से ही है; मैं हाईकोर्ट का जज बनूंगा या नहीं, इससे नहीं। शायद मैं जज न बन सकूँगा और तब क्रमशः भविष्य कल्पना भी नए-नए रूप धारण करती हुई मेरी नए-नए जीवन-खंडों की व्यस्तता में चरितार्थ होती हुई दिखाई देगी।

पुनः सामाजिकता की वर्द्धमान जटिलता और समस्यात्मकता समयावकाश और स्थानावकाश में अत्यति प्रसार्यमाण हमारी विशाल भविष्य-कल्पना को जितना ही अधिक धूमिल बनाती है उतना ही अधिक खण्ड-जीवन का व्यवसाय बढ़ता और महत्त्व ग्रहण करता जाता है। हमको अनेक ऐसे जीवन-खण्ड प्रायः प्राप्त होते हैं जो अपनी अवधि के भीतर एक स्वतन्त्र इकाई का सा रूप ग्रहण करते हुए से अत्यन्त मार्मिक ढँग से हमको आन्दोलित करते हैं।

जीवन की यह परिस्थिति साहित्य-रूप में खंड-काव्य बन कर हमें दिखाई देती है, जिसका उदय छोटी-छोटी कहानियों में होता है। ऋग्वेद के जीवन में ही भविष्य-भावना का उदय और विकास हो चला था। ऋग्वेद में हमें छोटी-छोटी कहानियाँ मिलती हैं। रामायण, महाभारत अथवा पुराणादि में भी ऐसी कहानियाँ हैं और "बृहत्कथा", तो कहानियों

का ही ग्रन्थ है। ये कहानियाँ, ऋग्वेद की विशेष रूप से, दो प्रकार की हैं—एक तो वे जिनमें महाकाव्य की सूचना है, अर्थात् जो जीवन को पूर्णता की दृष्टि से देखती हैं; और दूसरी वे जो जीवन के किसी प्रसंग-मात्र पर दृष्टिपात करती हैं। ये दूसरे प्रकार की कहानियाँ जीवन की वर्द्धमान विशालता में खंड-बुद्धि के आगमन की निदर्शक हैं।

तथापि, संस्कृति साहित्य में खंडकाव्य जैसे स्वतन्त्र साहित्य रूप के दर्शन हमें नहीं-से ही होते हैं। भारतीय जीवन में भौतिक संघर्ष की जटिलता (आत्माभिव्यंजन की परिमिति) जब तक भविष्य-कल्पना को अति दूरारूढ़ और एक दम दुर्ग्राह्य नहीं बना देती तब तक खंडकाव्य-रूप अभिव्यंजन वृत्ति सम्यक् विकास को नहीं प्राप्त होती। उसका विकास तब आरम्भ होता है जब विपरीत (मुस्लिम-आदि) जीवन-विधियों की विषम प्रतिष्ठा से भारतीय अध्यात्म-बुद्धि (तदनुरूप चतुराश्रम-चातुर्वर्ण्य-विधान) की सरलतर भविष्य-कल्पना छिन्न-भिन्न होने लगती है।

खंडबुद्धि के वृद्धिगत होने पर महाकाव्य-रचना का ह्रास हो चलता है। वर्तमान युग इसका प्रमाण है जब कि, पद्यात्मक महाकाव्य की तो बात ही क्या, उपन्यास और नाटक का स्थान भी कहानी और एकांकी ले रहे हैं तथा जो उपन्यास और नाटक लिखे भी जाते हैं उनमें भी खंड-दर्शन की प्रवृत्ति को ही प्रश्रय दिया जाता है तथापि यह बात स्मरणीय है कि खंडकाव्य को अन्तश्चेतना में महाकाव्य अवश्य निहित रहता है, जिस प्रकार कि महाकाव्य में खंडकाव्य की अंश-परम्परा देखी जा सकती है। साथ ही विशाल (भविष्य) जीवन की भावना में महा-काव्य और खंडकाव्य का अधिक से अधिक विकास हो जाने पर भी ऐकान्तिक जीवन का क्षण-रूप कभी पूर्णतः धर्षित नहीं होता, क्योंकि जीवन-संघर्ष तो जीव-व्यक्ति का ही होता है। जहाँ संघर्ष का रूप सामू-हिक दिखाई देता है—चाहे वह कुटुम्ब-परिवार के आश्रय से हो और चाहे जाति या देश के आश्रय से—वहाँ भी उसका अधिनेता कोई केन्द्र-व्यक्ति ही होता है, तथा जिनसे समूह का निर्माण होता है वे भी व्यक्ति

ही होते हैं। समूह के लिए सहज और समकालिक समान क्षण-भावना कदाचित् स्वभाव-सम्भव नहीं है, पर व्यक्ति के लिए विशाल अथवा खांडिक भविष्य-भावना का अविच्छिन्न नैरन्तर्य भी स्वाभाविक नहीं है। विशालता के अंगरूप क्षण-क्षण के संघर्षों की प्रतिक्रिया में व्यक्ति को तो अनेक ऐसे एकान्त-क्षण मिलते ही हैं जिनमें वह केवल स्वयं ही रहता है। फलतः, महाकाव्य-वृत्ति की वृद्धि से खंड-काव्य-वृत्ति में अथवा खंड-काव्य-वृत्ति की वृद्धि से महाकाव्य-वृत्ति में भले ही कमी आती हो, स्फुट काव्य की रचना हमेशा किसी-न-किसी मात्रा में देखने को मिलती है।

जीवन-साहित्य की प्रक्रिया

व्यक्ति अपने ऐकान्तिक स्फुट क्षणों में आत्म-प्रसार के अवरोध पर या तो विषण्ण होता है या आत्म-प्रसार में प्रगति पाकर प्रसन्न होता है। प्रसन्नता का हेतु कुछ तो आत्म-प्रसार का सन्तोष होता है और कुछ प्राप्यमाण या प्रापणीय प्रसार की आशा। विषाद और आत्मोल्लास दोनों ही में वह एक अभाव का अनुभव करता है। आत्म-प्रसार का वास्तविक (वर्तमान) या कल्पित (भावी) अवरोध ही प्राणी का अभाव है जो उसके लिए बोझ बन जाता है; और उसकी अभाव भावना ही उसके 'जीव'-त्व का, जीवन का, आधार है। अभाव से मुक्त होने की सहज-वृत्ति आदान की वृत्ति है। यह आदान की वृत्ति ही भाव, अथवा स्वभाव-ग्रहण की वृत्ति है जिसे प्रवृत्ति भी कहते हैं। परन्तु प्रकृति-दत्त अवरोधों और परिमितियों के कारण आदान-सौकर्य के न रहने से जो संघर्ष उत्पन्न होता है उसमें विवेक का बीज अंकुरित होकर निवृत्तिका रूप धारण करता है और प्रवृत्ति को प्रेरणा देता हुआ अवस्थानुरूप नए-नए अवयवादि के उपार्जन में सहायक होता है। इस प्रकार जिसे हम निवृत्ति कहते हैं वह अपने मूल में प्रवृत्ति की विरोधिनी कोई स्वतन्त्र वृत्ति न होकर उसी की पक्षान्तर-रूपा (नञ्-रूपा) अंगवृत्ति है। भाव-रूपिणी आदान-प्रवृत्ति में बाधा उपस्थित होने पर निवृत्ति विवेक (विचार) और प्रदान का रूप धारण करती है। इस प्रक्रिया में 'भाव', 'आदान', 'प्रवृत्ति' एकार्थी

शब्द हो जाते हैं और इनके सन्तुलन में ही 'विचार', 'प्रदान' और 'निवृत्ति' समानार्थी रूप में हमें दृष्टिगोचर होते हैं। इसी को हम यों भी कह सकते हैं कि प्रवृत्ति (भाव) आनन्द स्वरूपा है और निवृत्ति (विचार) चिद्रूपा। जीव अपने सहज आनन्द-स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के लिए चित् की प्रेरणा द्वारा अपनी परिसितियों से संघर्ष करता रहता है। जीव की इस जीवन-क्रिया में जीवन का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है (जिसका रूप आदान है) और जीवन का स्वरूप संघर्ष है (जिसकी प्रक्रिया आदान-प्रदान है)।

संक्षेप में, जीवन की समस्त प्रक्रिया आदान और प्रदान, प्रवृत्ति और निर्वृत्ति, भाव और विचार की सन्तुलन क्रिया है जिसमें प्रदान, निवृत्ति अथवा विचार का तत्त्व नञ्-तत्त्व होकर प्रधानता ग्रहण नहीं करता—वह केवल प्रेरक कर्म के गौण उत्तरदायित्व का अधिकारी रहता है। जीवन की यही प्रक्रिया है। साहित्य की भी प्रक्रिया है। साहित्य में भाव की, (या फिर कह लीजिए 'भावों' की, जो सैद्धान्तिक रूप में अधिक समीचीन नहीं है) प्रवृत्ति-क्रीड़ा रहती है और विवेक या विचार का अन्तःस्रोत उसी प्रकार उस भाव-प्रवृत्ति को अग्रसर करता है जिस प्रकार घोड़े की लगाम नियन्त्रण का सा अभिनय करती हुई घोड़े की गति को बराबर अग्रसर करती रहती है। एक ही भाव-वृत्ति आलम्बनों के (अग्रसरता के मार्गों के अथवा परिस्थितियों के) वैविध्य से जीवन-व्यवहार और साहित्य-व्यवहार में 'भावों' का सा रूप धारण करती दिखाई देती है; परन्तु उसका एकत्व इस बात में देखा जा सकता है कि साहित्य-द्वारा स्वीकृत आठ भावों में चार—शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत—प्रवृत्ति रूपक हैं और शेष चार प्रवृत्ति के पक्षान्तर, निवृत्ति-रूपक। एक ही व्यक्ति में इन सब का या इनमें से अनेक का आश्रय हो सकता है और वह क्षण-क्षण में उनको चरितार्थ करता रहता है। विशेष रूप से दर्शनीय बात यह है कि एक व्यक्ति में अनेक वृत्तियों का निवास होते हुए भी ऐसा कभी नहीं होगा कि उसकी तमाम वृत्तियाँ केवल

प्रवृत्तिमूला अथवा केवल निवृत्तिमूला ही हों। उसके जीवन लक्ष्य के नाते उसमें प्रवृत्तिमूल वृत्तियाँ तो होंगी ही होंगी, पर उनके साथ-ही-साथ निवृत्तिमूल वृत्तियों का जोड़ भी घुला मिला बराबर चलता रहेगा; क्योंकि निवृत्तिमूल वृत्तियाँ प्रवृत्तिमूल वृत्तियों का ही अर्द्धांग हैं।

इस प्रकार, तथा-कथित कोई एक भी भाव अपने में पूर्ण या स्वतन्त्र (Absolute) नहीं है। आत्माभिव्यंजन में अधिक सक्षम 'मानव'-नामधारी प्राणी नाना मार्गों, नाना विधियों, से अपनी ही (अपने एकत्व की ही) अभिव्यक्ति तो करता है, न कि उन नाना मार्गों की। फलतः किसी एक कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति उस कर्म-प्रसार में अनेक वृत्तियों का प्रदर्शन करता है जिन सब के बिना उस कर्म-प्रसार की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्य में किसी एक रचना के भीतर एक ही स्थायी भाव की मान्यता होने पर भी संचारियों के बिना उस स्थायी का संचरण सम्भव नहीं। अधिकांश क्रीड़ा तो संचारियों की ही होती है; परन्तु नाम स्थायी भाव के आधार पर किसी एक रस का ही होता है। इन संचारियों में भी कुछ प्रवृत्तिमूलक होते हैं और कुछ निवृत्तिमूलक, जो दोनों मिल कर स्थायी की प्रवृत्ति में सहयोग देते हैं। आनन्दरूप जीवन-लक्ष्य के नाते यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है कि यद्यपि स्थायी भाव आठ गिनाए गए हैं, साहित्य में हम प्रायः प्रवृत्तिमूलक भावों को ही 'स्थायी' के रूप में देखते हैं। भय, शोक, रौद्र और जुगुप्सा 'स्थायी'-रूप में नहीं—जैसे अपनाए गए हैं। फिर भी स्थायी के रूप में जो उनकी गणना की गई है सो प्रवृत्ति के पक्षान्तर-निदर्शन के लिए ही है, क्योंकि, जैसा कहा जा चुका है, निवृत्ति प्रवृत्ति की अर्द्धांगिनी है।

समन्वय के रूप

साहित्य की यह **समन्वय-क्रिया जीवन** वृत्तियों की समन्वय-क्रिया है जिनका आश्रय व्यक्ति है। हम देख चुके हैं कि मूलतः व्यक्ति ही संघर्ष-रूप जीवन का अधिष्ठाता है। परन्तु जब अनेक व्यक्तियों की बात सामने आती है तो उससे अनेक 'जीवनों' की बात पैदा नहीं होती,

अनेक व्यक्तियों—मानवों और इतर प्राणियों—तत्समूह—को लेकर भी हमारे सामने एकवचन जीवन का ही स्वरूप रहता है। यह जीवन-समन्वय का दूसरा पहलू है जिसके साथ वृत्ति-समन्वय का भी समन्वय है। कुटुम्ब के, जाति के अथवा राष्ट्र के सामूहिक जीवन में नाना-वृत्ति-प्रवण नाना व्यक्तियों का जीवन केन्द्र-व्यक्ति के जीवन में संश्लिष्ट होकर, उसका अंग बन कर, उसकी पूर्णता को आयोजित करता है और स्वयं उससे पूर्ति लाभ करता है। केन्द्र-व्यक्ति समूह के स्थायी भाव का प्रतिनिधि होता है, अतः उसकी जीवन-विधि समूह की जीवन-विधि का प्रतिनिधित्व करती है। यह अंगांगी-सम्बन्ध है, जैसा कि शरीर और शरीर के अवयवों और उनके संचालक मस्तिष्क में हम देखते हैं। कथा-काव्य व्यक्ति समूह में इसी अंगांगी-सम्बन्ध के समन्वय को हमारे सामने रखता है जिसमें नायक-व्यक्ति अपनी स्थायी वृत्ति के नाते दूसरेके सहयोगको स्वीकार कर दूसरे के जीवन का भी रूप-विधान करता है। आदान-प्रदान के सन्तुलन द्वारा, व्यक्ति की विभिन्न वृत्तियों की समन्वय-लीला की भाँति, समूह-गत विविध वृत्ति-शबल व्यक्तियों के समन्वय में जीवन की एकाकारता (एकरूपता) कथा-काव्य में निदर्शित होती है। राम और रावण दोनों मिल कर जीवन के एक ही रूप का प्रकाश करते हैं। इसी प्रकार राम और सीता। इसी प्रकार राम और रामायण के अखिल पात्र रामायण के अखिल पात्र संचारी बन कर राम-रूप स्थायी प्रवृत्ति (विशाल जीवन-वृत्ति) को संघटित करते हैं और राम के द्वारा अपने संचारित्व (खंड-जीवन-वृत्ति) को। वे राम का जीवन हैं और राम उनका जीवन और राम और वे मिल कर, बस, जीवनमात्र। जीवन के इस समन्वय-रूप में व्यक्ति और व्यक्ति-समूह—मानव और अमानव—ही नहीं, जड़ कहलाने वाली प्रकृति का भी समन्वय-योग है। जड़ प्रकृति भी (जो जीव और जीवनका बन्धन, उसकी परिमिति, है) चेतन के संघर्ष-रूप अभिव्यंजन के लिए क्षेत्र प्रदान करती चलती है अथवा, कहिए कि, जब चेतन अपना क्षेत्र ढूँढता और बनाता चलता है तो प्रकृति उसे सहयोग-बाधा (अथवा बाधा-सहयोग) देती

है। इसी अमित्र-भाव के सहयोग में निवृत्ति-प्रेरित प्रवृत्ति की, राम-रावणादि की, जीवन की, सारी लीला है। यही जीवन-रूप महाकाव्य है जिसमें खंडों और क्षणों का भी अन्तर्भाव है।

राम हो गए, रावण होगए, मैं हुआ, आप हुए, और न मालूम कौन-कौन होगए और हुआ करेंगे; परन्तु उनके अवयवादि-कर्म द्वारा अभिव्यक्त जीवन का उनके साथ अवसान नहीं हुआ; क्योंकि जीवन चिरन्तन है। अवयवादि कर्म द्वारा उसका चिरन्तनत्व अपनी सम्यक् प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो पाता, तभी तो वह वाणी-कर्म द्वारा, साहित्य बन कर, उस चिरन्तनत्व को प्रतिष्ठित करता है, assert करता है तब राम और मैं प्रतीकमात्र हैं, राम के और मेरे कर्म प्रतीकमात्र हैं। प्रतीक अलीक भी हो सकते हैं, उनके वस्तु-दृश्य (Objective) क्षण-स्थायित्व में ही उनकी अलीकता है। होने दो। प्रतीकों के माध्यम से जिस चिरन्तन तत्त्व का, चिन्मय आत्माभिव्यंजन का, प्रसार-प्रवाह हो रहा है जीवन तो वही है, वही साहित्य है। स्फुट हो या खंड हो या महा, किसी भी रूप में यदि साहित्य जीवन का चिरन्तन स्वरूप नहीं बन सका तो वह सच्चा साहित्य नहीं है। जीवन समन्वय का यह तीसरा पहलू है जिसमें त्रिकाल-समन्वय है।

जीवनरूप अभिव्यंजन में विशालता के समन्वय की एक प्रक्रिया और है जो उसके साहित्यरूप में अधिक स्पष्ट, सप्रभाव और व्याप्तिमय बन जाती है। संघर्ष के नाते मूल आत्माभिव्यंजन व्यक्ति का होता है, क्योंकि परिमितियों से संघर्ष व्यक्ति ही करता है। अवयवादि-कर्म-द्वारा अभिव्यंजन जब पूरा नहीं हो पाता तो वाणी-कर्म-द्वारा उसकी कमी को यथाशक्ति पूरा किया जाता है। देखते हैं कि दिल का गुबार ज़बान से कहने पर, किसी दूसरे के सामने उद्गीर्ण करने पर, बहुत-कुछ दूर हो जाता है जिससे जी हलका हो जाता है। कभी-कभी यह गुबार इतना और ऐसा होता है कि उसे निकाल-फेंकने के लिए असाधारण उद्गार की आवश्यकता होती है। इस सूरत में जितने ही अधिक व्यक्तियों के सामने,

जितनी ही अधिक बार, उसका उद्गार किया जाता है उतना भी मानो थोड़ा ही रहता है। प्रकारान्तर से यों भी कह सकते हैं कि जितना अधिक और जितने अधिक प्रभावोत्पादक ढँग से, उद्गार किया जाता है उतना ही गुबार का बोझ भी हलका हो जाता है।

ऐसा क्यों होता है? मनुष्य-मनुष्य के सामने ही क्यों उद्गार करना चाहता है? उद्गार उसी के सामने किया जाता है जो उद्गार को, उद्गारी के बोझ को, समझ सकता है, कभी-कभी जब गुबार और बोझ के अतिशय में उद्गार जड़ प्राणियों के सामने कर दिया जाता है तो उद्गारी विकल होकर चीख उठता है—'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' उद्गारी के उद्गार को समझ सकने का अर्थ है उद्गारी का समानधर्मी होना, उद्-गारी के साथ सहानुभूति के साथ प्रेरित होना।

क्यों किसी को उद्गारी के साथ सहानुभूति होगी? इसलिए कि समानधर्मी होने के नाते उसमें, श्रोता में, भी गुबार की वही सामग्री दबी पड़ी है जो उद्गारी में है, और जब उद्गारी अपना उद्गार करता है तो संस्कारबल से श्रोता का भी गुबार अपनी दबी हुई हालत से उभर कर स्वयं उद्गीर्ण होने लगता है। सुनने-मात्र से भी उद्गार होता है, आत्माभिव्यंजन होता है, यह सुनने वाले के अनुभावों को देख कर जाना जा सकता है। और फिर, सुनकर ही नहीं, चिन्तन तक से आत्माभिव्यंजन की संघटना होती है। इन्द्रिय-चालित जीवन-स्वरूप में चिन्तन की क्रिया यथार्थतः अभिव्यक्त नहीं हो पाती—केवल उसका कार्य ही (इन्द्रिय-चालित स्थूल जीवन-स्वरूप ही) हमारे सामने आता है। साहित्य जहाँ एक ओर उद्गारी के बोझ को हमारे सामने अनुभावों की साकारता में हमारे भी संस्कारगत बोझों का अभिव्यंजन कराता है वहीं वह हमारे इन बोझों के ही सहारे उद्गारी के चिन्तनरूप अभिव्यंजनके पथ पर हमें भी चिन्तनशील बनाता है। कथन, श्रवण और चिन्तन के लक्ष्यालक्ष्य रूपों में उसके, इसके और मेरे आत्माभिव्यंजन की यह सम-

न्विति घटित अथवा घटनशील जीवन-स्वरूप की चरमता है जो अपने साहित्यरूप में ही फलीभूत होती है।

वक्ता और श्रोता के इस समरूप आत्माभिव्यंजन का, दूसरे शब्दों में यह अर्थ होता है कि जो वक्ता का अभिव्यंजन है वह श्रोता का अभिव्यंजन भी है। और आत्माभिव्यंजन की समरूपता में, फिर, उन परिस्थितियों (परिमितियों) के वैविध्य का भी तिरस्कार होकर उनमें एक प्रकार की समरूपता घटित होती है जिन परिस्थितियों (परिमितियों) में वक्ता और श्रोता(ओं) का यह आत्माभिव्यंजन होता है। यहाँ जीवोपाध व्यक्ति अपनी परिमितियों से निकल कर चित्पुरुष का आकार ग्रहण करने लगता है। उसकी इस व्याप्ति में, बोझों से निवृत्ति पाने की घटना चित्पुरुष का विराट् आत्माभिव्यंजन बन जाती है जिससे परनिवृत्ति होती है और ब्रह्मानन्द सहोदर का साक्षात्कार होता है। जिसे काव्य में साधारणीकरण कहा जाता है वह वक्ता और श्रोता के द्वारा विराट् चिदाकार की इस विराटता—विराट् पुरुष के विराट् आत्माभिव्यंजन—की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त अमैर क्या है? जिसे काव्य का रस कहा गया है वह परिमितियों के वैविध्य (जीवोपाध के बोझों की असंख्यारूपता) से, विराट् (चिद्ब्रह्म) के आयोजन द्वारा निवृत्ति पाने का महोत्सव ही तो है जो अपने निवृत्ति रूप में सहज ही ब्रह्मानन्द-सहोदर हो जाता है। क्या हम यह नहीं देखते कि सच्चे कवि और सच्चे काव्य-रसिक—जो आजकल सामान्यतः कम ही मिलते हैं—सचमुच ही प्राकृत जन की असंख्य झंझटों से बहुत अधिक तटस्थ रहते हैं तथा प्रायः आत्मचिन्तन और आत्मसुख में लीन रहने वाले व्यक्ति होते हैं।

साहित्य को जीवन का सरूप, समकक्ष, कहने में किसी प्रकार की अतिरंजना की शंका अब यहाँ तिरोहित हो जानी चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न उपकरणों द्वारा जीव का जितना सा आत्माभिव्यंजन होता है वह यथार्थ जीवन का केवल आंशिक रूप ही रहता है। समन्वय जीवन का लक्षण है। समन्वय जितना ही व्यापक विशाल और

विशद होगा जीवन का स्वरूप भी उतना ही पूर्ण और विशद होगा। परिस्थितियों-उपकरणों के समाहार-समन्वय में आत्माभिव्यंजन की समस्तता, जीव के जीवन—(अपनी क्षुद्र बहुरूप परिमितियों से निकल कर अपने जीवरूप को अपने विराट् रूप में परिणत करने की चेष्टा)—की पूर्णता (अनांशिकता) साहित्य-रूप में ही चरितार्थ हो पाती है।

और, यह जीवन प्रक्रिया स्वयं ही होती है। 'साहित्य' नाम के अमुक पदार्थ की कभी किसी ने बैठ-सोच कर सृष्टि नहीं की थी। जिसे हम 'जीवन' कह कर पृथक् नाम से पुकारते हैं उस के समान साहित्य भी स्वयंभू सत्ता है जो एक तत्त्व है, पदार्थ नहीं। इस लेख के प्रारम्भ में यह प्रश्न किया जा चुका है कि मनुष्य की रसनेन्द्रिय किन हेतुओं से उसकी वागिन्द्रिय भी बन गई। यहाँ एक दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि मानवता के जिन प्रान्तों में साहित्य का किसी विशेष रूप में अथवा किसी भी रूप में, विकास नहीं हुआ है उस रूप में जीवन का विकाश क्या उन प्रान्तों में हो पाया है ? कहा जा सकता है कि साहित्य का विकास होने से जीवन का विकास होता है। अंग्रेजी कहावत के अनुसार, ऐसा कहना घोड़े के आगे गाड़ी जोतने की चेष्टा के अतिरिक्त और क्या है ?

५

आधुनिक हिन्दी कहानी

कहानी या Short story का इतिहास हिन्दी में लगभग चालीस-पचास वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। अन्य आधुनिक साहित्य प्रकारों की भाँति यह भी अंग्रेजी की देन है जो बँगला के मार्ग द्वारा हिन्दी-क्षेत्र में आई। हिन्दी में छोटी कहानी के उदय का उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कुछ अधिक विवरण के साथ किया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की सक्रियता प्रधानतः साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में रही है। परन्तु प्रारम्भिक हिन्दी कहानी के उन्नायकों में उनकी भी गणना की जा सकती है। कदाचित् नव्यता के आकर्षण से ही उन्होंने प्रारम्भ में एक कहानी लिखी थी।

साहित्यिक पत्रिकाओं का युग उस समय तक आरम्भ नहीं हुआ था, जिससे किसी भी नवीन रचना-प्रकार में विशेष प्रगतिशीलता का न आ सकना अति अस्वाभाविक न था। ले-देकर एक 'सरस्वती' कुछ दिनों से निकलने लगी थी, या फिर 'इन्दु' के दर्शन हो जाते थे। 'भारतेन्दु पत्रिका' पहले ही बन्द हो चुकी थी। फलतः प्रारम्भिक युग की कहानी-रचना में इने-गिने व्यक्तियों के ही नाम सुनने में आते हैं। उनमें से केवल दो नाम ऐसे हैं जिन्होंने कहानी रचना में स्थायी रुचि दिखलाई। वे हैं गिरिजाकुमार घोष और जयशंकर 'प्रसाद'। गिरिजा-कुमार घोष 'पार्वतीनन्दन' के नाम से भी लिखा करते थे।

'इन्दु' पत्रिका तो अधिक न चल सकी, परन्तु 'सरस्वती' पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व को पाकर उन्नति करती गई। हिन्दी

का यह परम सौभाग्य था कि 'सरस्वती' को द्विवेदीजी मिले और द्विवेदीजी को 'सरस्वती' मिली। द्विवेदीजी हिन्दी के सबसे अधिक जागरूक और कर्मनिष्ठ साहित्य-निर्माता हुए हैं, जिनका एकमात्र जीवन-व्रत हिन्दी का सर्वांग-समीचीन निर्माण करना था। कहानी की अन्तर्लीन शक्ति-प्रेरणाओं और उसके भविष्य की सम्भावनाओं को द्विवेदीजी ने देखा, स्वयं भी कभी कोई कहानी लिखी, और बड़ी बात यह कि दूसरों को ज़बरदस्ती कहानी लेखक बनाया। ऐसे लेखकों में पं० ज्वालादत्त शर्मा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है, जिन्होंने द्विवेदीजी के समय तक तो नियमपूर्वक कहानियाँ लिखीं पर उनके बाद एकदम हाथ रोक लिया। द्विवेदीजी के ही सम्पादन-काल में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' देखने को मिली, जो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों से प्रतिस्पर्धा करती है। परन्तु गुलेरीजी कहानी-लेखक न थे। उन्होंने दो-तीन कहानियाँ ही लिखी हैं।

द्विवेदीजी की अध्यवसाय-चेष्टा के परिणाम में यद्यपि हमें कोई अति उत्कृष्ट और टिकाऊ कहानीकार न मिल सके, परन्तु उस चेष्टा का बहुत बड़ा सुफल यह हुआ कि आठ-दस वर्ष के भीतर कहानी हिन्दी-चेतना का सहज अंग बनकर व्यापक और स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो गई। उसे दीर्घ जीवन की निश्चिन्तता का वरदान मिल गया और अब वह अपने को सँवारने-सुधारने, सुन्दर बनाने में प्रयत्नशील हो सकती थी। अब तक की कहानियों के विषय अधिकतर तो गार्हस्थ जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले ही हुआ करते थे जिनमें कभी-कभी सामाजिकता का पुट भी मिल जाता था। परन्तु विन्दु ब्रह्मचारी ने कुछ पौराणिक कहानियाँ लिखीं और गोपालराम गहमरी ने घटना प्रधान जासूसी कहानियों का श्रीगणेश किया। गुलेरीजी की कहानियों को छोड़कर इस समय की कहानियों की शैली अधिकतर वर्णनप्रधान होती थी। हिन्दी कहानी के उदय और प्रारम्भिक विकास का यह युग स्थूल दृष्टि से प्रथम महायुद्ध की समाप्ति तक चलता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद भारत में जो युग उपस्थित होता है वह हिन्दी के लिए सर्वतोमुखी उन्नति और द्रुत विकास का युग है। हिन्दी की प्रगति में इस समय एक अभूतपूर्व वेग और आवेश आ जाता है। युद्ध के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन और सत्याग्रह-संग्राम ने हमारी राष्ट्र-भावना को सर्वांगीणता और सार्वदेशीयता प्रदान की और तभी हिन्दी भी राष्ट्रभाषा पद के लिए सन्नद्ध हुई। हिन्दी के लेखकों और प्रकाशकों को भविष्य उज्ज्वल दिखाई देने लगा।

अब तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की और उनकी 'सरस्वती' की विशेष तत्परता से कहानी हिन्दी में अपनी जड़ जमा चुकी थी। इस नई परिस्थिति ने उसकी प्रगति में द्रुतता ही नहीं बल्कि कलात्मकता का भी समावेश कराया। पहले ही पहले इस परिस्थिति ने हिन्दी को प्रेमचन्द और सुदर्शन का उपहार दिया। ये दोनों महानुभाव उर्दू के प्रतिष्ठित कहानी-लेखक थे। प्रेमचन्द तो असहयोगी भी बनकर आए। इन दोनों की कहानी टेकनीक एक-सी ही थी। वर्णन-रीति और भाषा भी मिलती-जुलती हुई ही थी।

परन्तु कहानी-रचना में अग्रणीत्व उस समय प्रेमचन्द को ही प्राप्त हुआ। इसके कई कारण थे। जिस अध्यवसाय और तल्लीनता का प्रेमचन्द ने अपने कर्म में प्रदर्शन किया उसकी सुदर्शन में कमी थी। प्रेमचन्द की ख्याति उपन्यास-लेखन के द्वारा भी वृद्धिगत हुई। कहानी और उपन्यास को मिलाकर जितना अधिक साहित्य प्रेमचन्द ने जनता को दिया है उतना शायद उनके समय के और किसी लेखक ने न दिया होगा। फिर एक बहुत बड़ा कारण उनकी लोकप्रियता का यह भी था कि असयोगी और राष्ट्रीयतावादी होने के विशेषाधिकार से उन्होंने अपनी रचनाओं में सुधारक और उपदेशक के स्वरूप को अधिकृत किया, जिसके कारण उनकी रचनाओं का विषय-निर्वाचन भारतीय जीवन के विवादी दलों को लेकर ही अधिकतर घटित हुआ है। विवाद में कौतुक और मनोरंजन रहता ही है।

प्रेमचन्द की एक विशेषता यह बतलाई जाती है कि वह ग्रामीण जीवन के स्वाभाविक चित्रों को जनता के सामने रखनेवाले प्रथम साहित्यकार हैं। और, इस प्रकार, उन्होंने भारतीय जीवन के उस सबसे बड़े और मौलिक अंग को, जिसे हम लोग अपनी व्यावहारिक चिन्ता और भावना से एक दम बहिर्गत किए हुए थे, जातीय चेतना के निविष्ट कराके राष्ट्रीय इकाई की किसी भावना की प्रतिष्ठा की है।

कलात्मकता की दृष्टि से, इसमें सन्देह नहीं कि, प्रेमचन्द पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक स्वभावचित्रण की पद्धति को उद्भावित किया है। अपने कर्तव्य की ईमानदारी में प्रेमचन्द ने उपन्यास-कहानी-रचना के लिए काफ़ी तैयारी की है, और दूसरे देशों के उपन्यास-कहानी-साहित्य को ख़ूब पढ़ा है। अपनी कहानियों में प्रभावलाने और कौतुकापादन के लिए उन्होंने अधिकतर बालज़क और मोपासाँ जैसे फ्राँसीसी कहानी लेखकों की रीति को अपनाया है, जिसमें नायक के चरित्रचित्रण अथवा धटना की प्रगति एक ऋजु दिशा में चलती-चलती सहसा परावर्तित, अथवा किसी दूसरी दिशा में आवर्तित करा दी जाती है। इस प्रकार का आवर्त्तन कभी तो स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक हेतुओं को लेकर होता है, जैसे कि 'पञ्च-परमेश्वर' और बड़े घर की बेटी' में; परन्तु कभी वह स्वाभाविक नहीं भी होता, जैसे कि 'बैंक का दिवाला' में।

सुधारक बनने के नाते प्रेमचन्द आदर्शवाद के संकल्प को पुरःसर करके चलते हैं। संकल्पजात आदर्शवाद और स्वभावचित्रण की कला में कभी-कभी पारस्परिक वैषम्य पैदा हो जाता है, जिससे स्वाभाविकता को हानि पहुँचती है और 'बैंक का दिवाला' जैसी कहानियों में गति-आवर्त्तन की प्रणाली विफल हो जाती है। बात यह है कि प्रेमचन्द का आदर्शवाद भौतिक (objective) आधारों पर ही दृष्टि रखता है और जीवन के मर्म-तत्त्वों को कम देख पाता है तभी तो समाज के अच्छे-बुरे दलों के विरोध-दर्शन में रुक कर ही वह रह जाता है।

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में इतना अधिक कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि उनके अतिख्यातिप्राप्त और विषय-संकुल व्यक्तित्व ने हिन्दी के कहानी क्षेत्र को बहुत अधिक और विविध रूपों में प्रभावित किया है। उनकी सफलता ने कहानी लेखन के लिए दूसरों को बड़ी प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की, जिससे बहुत से नये लेखक प्रादुर्भूत हुए और कहानी-कर्म को विस्तार प्राप्त हुआ। उनकी स्वभाव-चित्रण सम्बन्धी ख्याति से कहानी की कलात्मकता की भावना का प्रसार हुआ और कहानी-लेखकों में आलोचनात्मक बुद्धि का उन्मेष होने पर अच्छी कहानियाँ लिखने की स्पर्धा जाग्रत हुई। अब तो साहित्यिक पत्रिकाएँ भी काफ़ी निकलने लगी थीं और कहानी-संग्रह भी प्रकाशित होने लगे थे; अतः कहानी के प्रसार और विस्तार की इस क्रिया में कोई बाधा नहीं हुई। कहानी-रचना पर पड़ने वाला प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का यह एक प्रकार का प्रभाव था।

दूसरे प्रकार के प्रभाव में उनके भौतिक आदर्शवाद की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। आदर्शवाद शुष्क था। सामाजिक दलबन्दी को अपनी लीलाभूमि बना कर वह व्यक्ति और व्यक्ति की आकांक्षाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। व्यक्ति के लिए आदेष्टा का रूप ग्रहण कर वह उद्वेगजनक भी हो सकता था। इसकी सबसे बड़ी प्रतिक्रिया जयशंकर 'प्रसाद' की रोमांटिक वृत्ति में मिलती है। 'प्रसाद' यद्यपि हिन्दी के सबसे पुराने कहानी-लेखकों में से थे परन्तु उनका भी कहानी-कर्म, सम्भवतः समय के व्यापक प्रभाव के कारण, इन्हीं दिनों विशेष रूप से प्रसृत होता है। प्रसाद असामाजिक नहीं हैं। परन्तु उनकी रुचि आर्यता और सभ्यता के रहस्यपूर्ण अतीतसे है, जिसमें आधुनिक समाज की दल-बन्दी नहीं, कृत्रिमताएँ भी कम हैं, और जहाँ व्यक्ति को अपने व्यक्ति में भी आचरण करने परिस्थितियों से संवेदित होने का अधिकार है। प्रेमचन्द में और प्रसाद में यही बड़ा भारी भेद है जो दोनों की भाषा शैली और कलात्मकता के भी अतिशय भेदों का हेतु बनता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण समाजनिष्ठ है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं; प्रसाद व्यक्तिनिष्ठ तो हैं परन्तु इसके

कारण वे असामाजिक नहीं होते। अद्भुत अतीत के जड़ आधार से संवेदनाओं का जल खींचता हुआ 'प्रसाद' का व्यक्ति अपने सम्पूर्ण की सिञ्चित करता और जीवन को रसमय बनाता है और, इस भाँति जड़ को भी सरसता का दान देता है। निस्सन्देह प्रेमचन्द के नायकों की अपेक्षा प्रसाद के नायकों को आप हम अपने अधिक सन्निकट पाते हैं।

शुद्ध व्यावहारिक भौतिक आदर्शवाद के विरुद्ध रोमांटिक वृत्ति की प्रतिक्रिया को प्रश्रय देने वाले दूसरे लेखक 'हृदयेश' हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के पास पौराणिक या ऐतिहासिक अतीत की भूमिका नहीं है, परन्तुव्यवहार समाज की जड़ निमित्त-चर्या में उनकी भी आस्था नहीं है। उनके जगत् का चित्र विशुद्ध कल्पना की तूलिकाओं से रञ्जित होता है, जिसमें किसीको मल स्पप्नलोक को मधुरिमा पाठक को व्यवहार-जगत् के आदर्श-अनादर्श, संघर्ष-संक्षोभ, से बहुत परे ले जाकर क्षण भर के लिए अननुभूतपूर्व विश्रान्तिके उपहार से उपचारित करती है। आदर्श-अनादर्श के झमेले में तो वह अपने व्यवहार-जगत् में पिसता ही रहता है।

'हृदयेश' की प्रतिक्रिया प्रेमचन्द की उर्दू-मिश्रित अव्याकृत भाषा के विरुद्ध भी है वह भाषा प्रयोग की दृष्टि से, बिलकुल ही विपरीत सीमा पर पहुँचे हुए हैं। उन्हें शुद्ध सांस्कृतिक आर्यभाषा का पक्षपात है और उनका आदर्श बाण भट्ट का गद्य है। परन्तु इससे पाठक को उनके नायक के समीपतम पहुँचने में कठिनता होती है।

कल्पाना प्रधान कहानियाँ राय कृष्णदास ने भी लिखी हैं परन्तु उनमें रोमांस की कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है ; सामाजिकता की विशेष व्यवहार-परायणता भी नहीं है।

प्रेमचन्द की कथन-प्रणाली शुद्ध वर्णनात्मक थी, कल्पनाप्रवण इन दूसरे लेखकों की शैली में ध्वन्यात्मक अथवा लाक्षणिक सांकेतिकता का उन्मेष बढ़ता जाता है। सांकेतिक शैलीमें लिखने वाले अन्य कहानीकारों में विनोदशंकर व्यास और मोहनलाल महतो 'वियोगी' की गणना अवश्य करनी होगी। पर व्यासजी ने, न मालूम क्यों, अब लिखना बन्द

कर दिया है। महतोजी और राय साहब कभी-कभी कोई कहानी लिख देते हैं।

इस समय लेखकों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसे न तो यथार्थतः प्रेमचन्द वर्ग में ही रख सकते हैं और न 'प्रसाद' के अथवा राय साहब के वर्ग में हो। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक वस्तुतः द्विवेदी युग की रूढ़ियों को अपने साथ लिए चलते हैं। ज्वालादत्त शर्मा की भाँति इनका क्षेत्र अधिकतर गृहस्थ जीवन ही है और उनकी शैली भी ज्वालादत्त शर्मा की शैली से अधिक मिलती-जुलती है उन्होंने काफ़ी बड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं जिनमें कोई-कोई बड़ी प्रसिद्ध हुई हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी में वर्णनात्मकता और सांकेतिकता का समझौता-सा है। इनकी प्रारम्भिक कहानियाँ अधिक वर्णनात्मक थीं। बाद में सांकेतिकता के साथ-साथ कलात्मकता की ओर भी इनकी प्रवृत्ति बढ़ी है। वाजपेयीजी अब भी लिखते हैं।

इस समय के प्रमुख लेखकों की गणना में हम जैनेन्द्रकुमार को नहीं भूल सकते। यह प्रेमचन्द के प्रशंसक हैं, पर कहानी-लेखन में इनका मार्ग बिलकुल भिन्न है। इनकी रचनाओं का आदर्श प्रेमचन्द का जैसा नहीं बल्कि नग्न वास्तविकता का है जिसे वह अति ही हृदयग्राही मनोवैज्ञानिक सत्यता के साथ उपस्थित करते हैं। इसे हम प्रेमचन्द के आदर्शवाद अथवा रोमांटिक लेखकों के कल्पनावाद की प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार करें या नहीं, यह निर्णय करना कठिन है। कहानी के विकास दृष्टि से इस युग को यदि हम चाहें तो प्रेमचन्द-युग कह सकते हैं, और यह युग कहानी की बहुमुखी उन्नति का स्वर्णयुग है इसमें हमको, जैसा हमने अभी देखा, बहुत ऊँची-ऊँची कोटि के लेखक मिले। विषय और शैली की दृष्टि से कहानी लिखने के अनेक रूपों का उसमें विकास हुआ और अत्यधिक मात्रा में कहानी-साहित्य का निर्माण हुआ। अन्नपूर्णानन्द वर्मा या बदरीनाथ भट्ट जैसे दो एक हास्यरस के कहानी-लेखकों का भी इस यग में उदय हुआ। किसी राजनीतिक ऐतिहासिक तिथि के हवले

से यदि हम इस युग की अवधि को निरूपित करना चाहें तो स्थूल रूप में सन् १९३५ के आसपास इसकी चरम सीमा मान सकते हैं।

सन् १९३५ के बाद भारत के राजनीतिक वातावरण में एक परिवर्तन होता है। १९१८ से १९३५ तक का समय राष्ट्रीयता की भावना के उभार-उमंग का, भावुकता का, समय रहा है। इसके बाद समय आर्थिक विषमता और उससे उत्पन्न हुए असन्तोष का समय है, जिसमें भावुकता का स्थान व्यावहारिकता ने, जीवन-निर्वाह की क्रूर चिन्ताओं ने, ले लिया है। साहित्य यदि जीवन को प्रतिबिम्बित करता है तो १९३५ के बाद के कहानी-साहित्य में भी भारतीय जीवन में पैदा होने वाले इस नए आर्थिक दृष्टिकोण का प्रभाव लक्षित होना आवश्यक था। देश में कम्यूनिज्म की भावनाओं के प्रसार ने हिन्दी में प्रगतिवाद को जन्म दिया, जिसकी दो मुख्य समस्याएँ हैं रोटी और सेक्स अथवा काम वृत्ति, यह मानना होगा कि भूख और कामातुरता की इसप्रकार की विषमता जीवन का स्थायी उपादान नहीं है। वह केवल एक परिस्थितिजन्य क्षणिक अवस्थामात्र है। परन्तु साथ ही, यह भी मानना होगा कि भूख और काम की वृत्ति जब विषमता की तीव्रता को लेकर उपस्थित होती हैं तो उनसे एक ऐसी समस्या बन जाती है जिसके सामने अन्य सब समस्याएँ गौण हो पड़ती हैं और मानसिक वृत्ति अस्थिर हो उठती है। परिणामतः इस अर्वाचीन युग के कहानी-साहित्य में ही नहीं, बल्कि साहित्य-रचना के अन्य प्रकारों में भी, न तो हम कोई स्थिरता ही देखते हैं और न कला- अन्वेषण की किसी विशेष तल्लीनता को ही। राजेश्वरप्रसाद, प्रभुलाल गर्ग, भगवतीचरण वर्मा आदि कुछ अच्छे कलाकार, जिनका पिछले युग में उदय हुआ था और जिनसे आशा थी कि वे कहानी-कला को विकास-परम्परा को आगे बढ़ाते चलेंगे, इस प्रगतिवादी युग में कहानी-लेखन से कुछ विरत से हो गए हैं। सुदर्शन ने तो एक प्रकार से कहानी-रचना के कर्म से पूर्ण विश्राम ही ले लिया है। अर्थ-समस्या की विषमता हमारे बहुत से लेखकों को सिनेमा-विषयक कहानी-लेखन के सब्ज़बाग़ की ओर विमोहित करती

है। हिन्दी प्रकाशकों की नीयतें अभी तक ठीक नहीं हुई हैं। ऐसी अर्थ-परिस्थिति में, दिखाई देता है, कहानी-रचना में अथवा किसी भी छोटे प्रकार की साहित्य-रचना में कलाकार को लेकर वे ही लोग प्रवृत्त हो सकेंगे जो अर्थ-समस्या अथवा अर्थ-लोभ से एकदम मुक्त हों। इन दिनों रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' अवश्य ऐसे दिखाई देते हैं जिन्होंने दिशा परिवर्तन नहीं किया है,

कहानी के रूप में जीवन को व्याख्यात करने की वृत्ति जीवन को उसके खण्ड रूप में देखने की वृत्ति है। अतः हम कहानी-कर्म की एक छोटी-सी प्रतिक्रिया को कतिपय ऐसे लेखकों के हाथों होती हुई देखते हैं जो कहानी-रचना की ओर से कुछ उदासीन से हो गए प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, 'चित्रलेखा' जैसे उपन्यास के रचयिता को बाद में हम 'तीन वर्ष' लिखता हुआ पाते हैं। 'तीन वर्ष' भी बड़ी सुन्दर रचना है; परन्तु, 'चित्रलेखा' से अलग, इसका दृष्टिकोण खण्डजीवन का दृष्टिकोण है, जिसके कारण, यदि हम चाहें तो, इसे औपन्यासिक कहानी अथवा खण्डोपन्यास भी कह सकते हैं। इस समय के कई अच्छे उपन्यासों में हम खण्ड-जीवन के ही दर्शन पाते हैं।

कहानी के मार्ग में बाधा डालने वाला एक अन्य प्रबल हेतु एकांकी नाटक का उदय है, जिसमें नव्यता का भारी आकर्षण है। नव्य होने के कारण परीक्षाओं के कोर्सों का प्रारम्भिक आकर्षण भी यह अपने साथ लिए हुए है।

इस प्रकार वर्तमान अर्थयुग की विषमताओं के कारण जो कि युद्ध तथा युद्ध के बाद के ज़माने में तो अत्यन्त ही भीषण हो उठी हैं, साहित्य-मात्र में कलानुधावन की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ है। कहानी भी इस ह्रासोन्मुख प्रभाव से नहीं बची है। परन्तु अन्यथा तो कहानी की लोक प्रियता बढ़ती हुई ही दीखती है। केवल कहानी की ही बहुत-सी पत्रिकाएँ आजकल हिन्दी में निकल रही हैं। परन्तु ये सब पत्रिकाएँ मानों रेल-यात्रियों के ही लिए विशेष रूप से निकाली जाती हैं, जिनमें समय

बिताने भर की सामग्री अधिक रहती है। जब प्रेमचन्द 'चाँद' के सम्पादक थे तो उन्होंने अपने पत्र में एकबार लिखा था कि 'छोटी कहानी यात्रा में आपकी छड़ी है। अगर कोई कुत्ते साहब ही आपसे उलझ पड़े तो....' आदि। आज का हमारा अधिकांश कहानी-साहित्य वास्तव में यात्रा की छड़ी से अधिक कुछ नहीं है। इस युग ने हमको शायद ही कोई ऐसा लेखक दिया हो जो हिन्दी कहानी के इतिहास-निर्माताओं में गिना जा सकेगा, *

---

* आल-इंडिया-रेडियो, बम्बई से २० जून १९४८ को दिया गया भाषण।

३

कृष्ण-तत्व

अनेक वर्ष हुए, रास्ता चलते तक मुसलमान मित्र मुझ से अचानक पूछ बैठे कि हिन्दुओं के दो प्रमुख अवतार, राम और कृष्ण, काले क्यों हैं और चित्रादिक में वह हमेशा जवान क्यों दिखलाए जाते हैं। उस समय तक ये प्रश्न कभी मेरे मन में उदित नहीं हुए थे और मेरे पास उनका कोई तात्कालिक उत्तर नहीं था। तदापि, पान की दुकान पर खड़े-खड़े, मैं उनसे अनायास ही कुछ कह बैठा।

प्रश्नों के उदित होने के बाद वे दिल में कुछ बैठ भी गए। उन पर कुछ सोचा भी होगा; और मुझे ऐसा लगा कि मुसलमान सज्जन को जो उत्तर मैंने दिया था उस पर मेरी आस्था हो सकती थी। कभी बाद में किसी से यह सुन कर कि कदाचित् मेरे विचार मूल के ही ढँग की कोई बात किसी और ने भी कही थी मुझे सन्तोष हुआ। मुसलमान मित्र ने जो प्रश्न किया था उस प्रश्न के शब्दों ने ही जैसे मुझे उस समय उसके उत्तर का सहसा संकेत कर दिया था। 'काला' और 'कृष्ण'! किसी अति काले बच्चे का नाम कल्लू, कलुआ अथवा कृष्ण रख दिया जाए तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु राम भी काले! और दोनों ही सबसे बड़े अवतार और १५-१६ कलाओं से सम्पन्न, अर्थात् पूर्ण ब्रह्म! तो यह मानना जरूरी नहीं दिखाई दिया कि कृष्ण काले होने के कारण कृष्ण कहलाए हों, और, 'कृष्ण' शब्द की 'काली' व्याख्या में तो महत्वशाली अथवा माधुर्यसूचक गुणों का कोई ऐसा आरोप नहीं मालूम होता जिससे आकर्षित होकर किसी सुन्दर बालक अथवा महा-

पुरुष को 'कृष्ण' अथवा 'काला' नाम दे दिया जाए।

अभी कुछ समय पहले वनस्थली विद्यापीठ की मुखपत्रिका में प्रो० सहल का एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिससे यह वान्छा पैदा है कि कृष्ण-भावना और कृष्ण-व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक खोज होनी चाहिए। केवल अनुमान प्रणाली के आधार पर मेरी दो धारणाएँ बन सकीं, अर्थात् (१) 'कृष्ण' नाम के एक या एकाधिक व्यक्ति थे, और (२) कृष्ण त्रिगुणात्मक विश्व का, एक क्या, चरम आध्यात्मिक तत्व है। इस दृष्टिकोण में वह वही है जो 'राम' भी है। इन दोनों दृष्टिकोणों में एक तीसरा दृष्टिकोण यह बनता है कि (३) आध्यात्मिक कृष्ण ऐतिहासिक कृष्ण की एक प्रदर्शनी का परिणाम है, और उस प्रदर्शनी का कृष्ण या तो व्यास का समकालीन रहा होगा या व्यास के समय तक वह लोकचेतना में एक विशाल जातिनेता के रूप में सुदृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित होगया होगा। यहाँ ध्यान में रखने की एक मनोरञ्जक बात यह भी मालूम होती है कि व्यास का दूसरा नाम 'कृष्ण द्वैपायन' था और भगवान् कृष्ण अपनी पीछे की लीलापटी पर द्वारिका द्वीप के अधीश के रूप में चित्रित होते हैं।

कृष्ण के भौतिक व्यक्तित्व में हमको उनके तीन सुस्पष्ट और एक दूसरे से असंसृष्ट पहलू दिखाई देते हैं—लीलामय कृष्ण, योद्धा और राजनीतिज्ञ कृष्ण और राजा कृष्ण। इन तीनों के समन्वय और समाहार में योगी कृष्ण की निष्पत्ति होती है, यद्यपि वह अलग-अलग प्रत्येक पहलू में भी सिद्ध की जा सकती है। परन्तु भक्तों और दार्शनिकों ने उसे विशेष रूप से लीलाकृष्ण (बालकृष्ण) और राजनीतिज्ञ कृष्ण के रूप में देखने की ही तत्परता प्रदर्शित की है।

ऐतिहासिक कृष्ण के तीनों पहलू असंसृष्ट हैं, यह अभी कहा गया है। खिलाड़ी नटखट बालकृष्ण का मथुरा पहुँच जाने के बाद ही एक बड़े लोकसेवी राजनीतिज्ञ के रूप में परिणत हो जाना भौतिक बुद्धि के लिए सहज-ग्राह्य नहीं है। इसी भाँति मथुरा के कंसारि और महाभारत

के सर्वत्यागी, धर्मरक्षक महानीतिज्ञ ने किस भोगप्रधान संस्कार-परम्परा के कारण द्वारिकापुरी का वैभवशाली अधीश्वर—(उग्रसेन तो कहने मात्र का राजा था)—बनना पसन्द किया ? लौकिक दृष्टि में तो नाना के राज्य में, विशेषतः जब कि वह स्व का ही दिया हुआ भी हो, राजा को नाम-मात्र रख कर स्वयं राजविभव का समस्त अधिकारी बन बैठना एक ऐसी विषमता है जो आदर्शवादियों के लिए चिन्तनीय हो सकती है।

भौतिक-आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण एक ओर खिलाड़ी हैं, दूसरी ओर भोगी, तीसरी ओर, योगी।

शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण-कृष्ण हैं, गोपाल हैं, गोपीवल्लभ हैं, लीलामय हैं और अच्युत योगेश्वर हैं।

भौतिक व्यक्ति में अध्यात्म का यह आरोप ऊँचे आदर्श की कल्पना है। राम चूँकि एक कला कम थे, इसलिए उनमें पूर्ण आदर्श का आरोप न हो सका और वह केवल 'राम' ही रह गए और उनका रामत्व मर्यादा से अवरुद्ध हो गया।

आध्यात्मिक दृष्टि से राम और कृष्ण एक हैं—विश्व का वह अखिल-संचालक तत्व जो अखिल विश्व में रमा हुआ है और जो सीमित बुद्धि के लिए असम्भव रूप से दुरूह होने के कारण परम रहस्यमय है, 'कृष्ण' है। वह तत्व 'राम' के रूप में रमा हुआ होकर समाज की परिधि में बँधा है—समाज के हेतु से मर्यादा की रस्सी बड़ी मजबूत हो गई है। कृष्ण अपने रूप में शुद्ध ऐकान्तिक और एक है। 'राम' में समाज और असमाज का द्वित्व देखा जा सकता है, पर कृष्ण में यह द्वित्व नहीं—यहाँ तो समाज उस केवल एक का कोई क्षुद्र-सा अविभाजनीय अंश है। रामतत्व में समाज-व्यवहार की निर्विकल्पना के कारण चिति की विशेषता है जो मर्यादा की नाप-तौल करती है। कृष्णतत्व शुद्ध आनन्दतत्व है, सच्चित परिणति है, जो जीव-व्यक्ति (कृष्ण) में उदाहृत होकर विश्वात्म-व्यक्ति की भी ऐकान्तिकता, समैकरसता, कैवल्यस्थिति, का स्वरूप हो जाती है। सत् की आधारसिद्धि दोनों के साथ है—एक में आंशिक

(सामाजिक) रूप में, दूसरे में आंशिक (एकान्त-व्याप्त) रूप में।

परन्तु जिसे सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा जाता है वह त्रिगुण से भिन्न है और त्रिगुणातीत है। वेदान्तियों की विचारधारा के अनुशीलन में त्रिगुण माया का स्वरूप कहा जा सकता है, अर्थात् मिथ्या। त्रिगुण अथवा माया को अधिक से अधिक प्रतिष्ठा दो तो उसे सच्चिदानन्द की लीला कह लो। यदि कहो तो, अर्थात् यदि लीला ही माया है तो— (और, सिवा इसके कहा भी क्या जा सकता है? क्योंकि आनन्द तो तरंगी तत्व है, वह तो लीला में ही विलसित होगा) तो यह यही कहना है कि ब्रह्म की लीला के लिए त्रिगुणों का उसके साथ आरोप होगा ही होगा।

इसी प्रकार मैं सच्चिदानन्द की, जलकमलपत्रवत् या यत्तद्वत्, व्याप्ति हो सकती है। तब, त्रिगुणारोपण की इस लीला में त्रिगुण की अध्याप्ति, ससीमता, का हो जाना अनिवार्य सा दीखता है। एक महात्मा कहा करते थे कि देही ब्रह्म नहीं हो सकता—ब्रह्मकल्प तक तो हो सकता है। त्रिगुणा-रोपण द्वारा त्रिगुणों की सीमा के कारण देही की संज्ञा पाकर वह देह की स्थूल जड़ त्रिगुणता से अपने विभेद को स्पष्ट रखने के लिए एक दूसरी संज्ञा 'जीव' को भी अपनाता है, यद्यपि तात्विक रूप में 'जीव' और 'देही' एक ही संज्ञा के दो रूप हैं। देह के आश्रय में आनन्दमूल जीव या जीवनतत्व इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों के द्वार से जब अपना विलास करता है तब वह गोप और गोपीवल्लभ हो जाता है। रामतत्व में सामा-जिक व्यवहार की चिन्मूलता के कारण उसे गोपाल और गोपीवल्लभ बनने की आवश्यकता नहीं, मौका भी नहीं, यद्यपि वह 'दशरथ' का पुत्र और 'दशमुख' का शत्रु बनता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि क्योंकि वह दशरथ का पुत्र और दशमुख का शत्रु बनता है—तत्वतः दशरथ का भी शत्रु—इसलिए वह 'गोपाल'—(अर्थात् दशपाल)—नहीं बन सकता।

'गोप' में जो 'गो' है उसका अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिवाले लोग

इन्द्रिय' लगाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिवाले लोग, फिर लक्षण से 'गोपी' को भी इन्द्रियार्थ में ही व्याख्यात करते हैं। मैं शायद दोनों से ही सहमत हूँ। जो तत्व इन्द्रियों का पालन करे, अर्थात् जो अपने सहयोग द्वारा और तो कैसे ?—इन्द्रियों को उन्मुक्तता के साथ क्रीड़ा करने दे वही 'गोप' और 'गोपीवल्लभ' है। उनका यह सहयोग ही उसकी लीला है। और इस लीला में वह स्वयं 'अच्युत' है, वह अपनी पदवी से स्खलित या भ्रष्ट नहीं होता, जिस प्रकार बूढ़े संजीदा आदमी छोटे बालकों का दिल बह-लाने के लिए उनके साथ घोड़ा बनने आदि का खेल-खेल लेते हैं। नट के बाँस का दृष्टान्त भी उपयुक्त हो सकता है। नट की कलाबाजियों में योग देता हुआ उसका लम्बा बाँस उसकी तरह-तरह की गतियों के साह-चर्य में लचकता-मचकता रहता है; परन्तु वह अपनी मूल पदवी में अविचल है—कलाबाजी निष्पन्न होते ही पुनः सीधा खड़ा हो जाता है जैसे वह स्वयं खेला ही न हो। चाहें तो जो बात पार्वती ने शिव के बारे में कही थी उसकी भी हम यहाँ याद कर सकते हैं—

तुम्हरे जान काम हर जारा। अब लग सम्भु रहे सविकारा।
हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥

इस प्रकार इन्द्रियादिक के साथ खेल करता हुआ यह 'अच्युत'-तत्व, योगी या योगीश्वर नहीं, योगेश्वर (स्वयं योगिसाध्य का स्वामी, स्वयं योगिसाध्यस्वरूप) बन जाता है; क्योंकि योगी अथवा योगीश्वर में तो दैहिकता विशिष्ट है, जिसमें अभ्यास और साधना की दुर्बलता का संकल्प है। ऊपर के 'अकाम अभोगी' में, दीखता है, गीतातत्व का नैष्कर्म्य भी बोल-सा रहा है।

साथ ही यह अच्युत तत्व त्रिगुणात्मक इन्द्रियों और इन्द्रय विषयों की परिमिति के कारण ब्रह्म भी नहीं है। 'देही ब्रह्म नहीं हो सकता' का मतलब भी शायद यही है। तब शायद वह 'जीवो'-संज्ञात्मक ब्रह्म की मनः—संज्ञा है। सुना भी है कि 'मनस एवं जगत् सर्वम्' अथवा, और आगे बढ़ कर, 'मन एव जगत्।' त्रिगुण-लीला से सम्पन्न ब्रह्म मन है

और त्रिगुणातीत मन ब्रह्म है।

यह विश्व-निर्माता और विश्व-संचालक मनस्तत्व चितिरूप है और विवेक की छलनी ग्रहण कर, 'राम' होता हुआ भी, मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी बनता है। विवेक और चिति की पूर्ण सिद्धि के बाद वह इन्द्रियों के खेल में अपने सहयोग द्वारा, परन्तु साथ ही इन्द्रियों का संचालक और नियामक विजेता बन कर, आनन्द-परिणति की चरमता को प्राप्त होता, या प्राप्त कराता है। क्या इसमें ही रामावतार के पहले होने और कृष्णावतार के बाद में होने का कुछ रहस्य भी देखा जा सकता है, क्या किसी 'अंश में भी यह पौर्वापर्य मानसिक अर्थात् त्रिगुण-संविण्ण परतत्व के लौकिक-भौतिक विकास की किसी पद्धति का भी निर्देशक हो सकता है।

यदि हाँ, तो यह विकास-सिद्धि काकतालीय न्याय द्वारा अनायास-सिद्ध कल्पना नहीं, बल्कि एक सुविमृष्ट गवेषणा है जिसे लौकिक-गति-मति-अनुरोधी बनाने के लिए राम-रूपक और कृष्ण-रूपक की आवश्यकता हुई। लौकिक-गतिमति-अनुरोधित्व के प्रस्ताव में राम और कृष्ण-वर्णत्व का सामाधान मिल सकता है; क्योंकि रूपक की आवश्यकता तभी प्रादुर्भूत होती है जब कि मूल तत्व रहस्य के अन्धकार की गहनता में काले परदे की भाँति, लौकिक मतिगति के लिए अभेद्य हो।

राम और कृष्ण चिरयुवा भी हैं, क्योंकि वह विष्णु का अवतार हैं। लोगों ने ब्रह्मा और महेश के चित्रों को वृद्ध के रूप में देखा होगा परन्तु विष्णु के चित्रों को नहीं। विष्णुतत्व सम्भवतः ब्रह्म का आनन्दोन्मुख चित्तत्व है, संस्कृति का पालक और उसका पोषणतत्व है। अपने लौकिक मनुष्य-जीवन में हम देखते हैं कि यौवन की अवस्था जीवन की परम कृतिमय अवस्था है जिसमें व्यक्ति की समस्त तत्परता गृहस्थी के पालन और पोषण में देखी जाती है। यह चिरन्तन अखिल सृष्टि जिसकी गृहस्थी है उसे उसके पालन-पोषण के लिए सदा युवा ही बना रहना पड़ेगा। तभी तो सृष्टि कायम रहेगी। हम कहावत भी तो सुनते हैं कि

मन कभी बुड्ढा नहीं होता।

तब क्या हम कह सकते हैं कि आंशिक (सामाजिक) रूप में राम और पूर्ण रूप में कृष्ण इस त्रिगुणात्मक विश्व को प्रतिष्ठा देने वाले और उसके दीर्घायुष्य का पोषण करने वाले मनस्तत्व का स्वरूप हैं। दीखता यही है कि राम और कृष्ण इस ब्रह्मांड का त्रिगुण-लीलात्मक संचालनकर्ता मनस्तत्व अथवा मनरूप ईश्वर हैं, जिसकी गतिविधि दुर्ज्ञेय है। उसके संचालनकर्तृत्व में ही 'मनस एव जगत्' या 'मन एव जगत्' है। दुर्ज्ञेयता के नाते वह तत्व कृष्ण है और दीर्घायुष्य के पोषण के लिए वह चिरयुवा है।

भौतिक-ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्णतत्व की इस सम्भावनीय धारणा का विकास किस प्रकार लौकिक व्यक्तियों (दशरथी और वासुदेव)पर आरोपित हुआ होगा—इस प्रश्न का उत्तर सम्भवतः वे लोग देंगे जो प्रो० सहल की जिज्ञासा में अनुरक्त होंगे। इस विषय में मेरे निष्कर्ष कदाचित् श्रद्धालुओं के मनोनीत न हो सकें। तथापि कृष्ण के विविध व्यक्तित्व और 'कृष्ण द्वैपायन' संकेत द्वारा, हमें ऐसा लगता है, हम अपनी धारणा का बहुत-कुछ अनुचित आभास दे गए हैं। इसके लिए क्षम्यताम्।*

* नवयुग,

७

गो प्रश्न

"गाय एक चार-पैरवाला पालतू पशु है, जिसका दूध मीठा होता है" आदि के ढँग के, चौथे-पाँचवें कक्षाओं को हिन्दी रीडरों में पढ़े हुए, लेखों की एक धूमिल स्मृति उपहास करती हुई सी मेरे साथ लुकाछिपी करती है। भ्रम सा होता है कि उसी समय इसी तरह के छोटे-छोटे लेख शायद अंग्रेज़ी की रीडरों या निबन्ध-शिक्षिकाओं में भी पढ़े हों, अंग्रेज़ी-हिन्दी की निबन्ध-शिक्षिकाओं में तो वे अब भी कभी-कभी देखने में आते हैं।

परन्तु अंग्रेज़ी-जैसी विश्वभाषा की शिक्षिकाओं में गाय के लेखों की बात सोच कर बुद्धि कुछ ठहरती सी है—किसी तरह के आभास में से कुछ टटोलने का सा प्रयत्न करती है। कभी बाजार में खरीदे हुए बिलायती दूध के डिब्बे की भी याद आ जाती है, यह बिलायती दूध गाय का ही दूध बतलाया जाता है। कभी मक्खन के डिब्बे पर भी गायों के ही चित्र देखने को मिलते थे। फिर तो यह भी ध्यान होता है कि संस्कृत और अंग्रेज़ी के 'गो' या 'गौ' और cow शब्द भी एक ही शब्द के दो रूपान्तर से प्रतीत होते हैं। कभी भाषाविज्ञान की परीक्षा के लिए पढ़ा था कि प्रायः सवर्गीय? अथवा एक कुल की भाषाओं में एक ही ध्वनि के श्वास और नाद, या कठोर और कोमल, रूप अलग-अलग देखने में आया करते हैं। क् और ग् एक ही ध्वनि के ऐसे दो रूप हैं।

यह सब याद करते ऐसा लग रहा है कि संसार भर के ही जीवन में शायद गाय का कोई अति महत्वपूर्ण स्थान है जिसे बहुत से लोग अपनी

दुर्लालसाओं के पक्षपात में स्पष्टतया स्वीकार नहीं करते हैं। केवल हिन्दू जाति ने 'गोमाता' शब्द की स्वीकृति द्वारा अपने बाह्य के तथा अन्तस् आचार की निर्मल सत्यता का परिचय दिया था। वैसे, पुराना 'गोधन' शब्द भी और 'गोधन' शब्द की, संस्कृति भी, खूब सार्थक है। परन्तु 'माता' शब्दकी निर्भरता में जीवनसार, और सत्तासार,की समूची कहानी है। 'आयुर्घृतम्' की लाक्षणिकता के उदाहरण पर 'गोमाता' शब्द अपनी लक्षणा की दूसरी-तीसरी पद्धति में गो को हमारे जीवन, अस्तित्व, का ही रूप बना देता है।

हिन्दुओं ने गाय को माता, जीवनाधार, क्यों कह दिया? आयुर्वेद-शास्त्री तो गाय के, घी दूध ही नहीं, मल-मूत्र तक में अद्वितीय आरोग्यवर्धक गुणों की शोध करते हैं। शक्तिवर्धन की दृष्टि से तो भैंस का दूध अधिक श्रेष्ठ है, परन्तु शक्ति का रहस्य शक्तिमात्र में नहीं, बल्कि आरोग्य में है। आरोग्य का सम्बन्ध तो जीवनस्थिति से भी है. और, जीवनस्थिति का एक और आधार अन्न है. अन्नोत्पादान में, देखने में आता है, भैंस की पुरुष-सन्तान की अपेक्षा गाय की ही पुरुष-सन्तान विशेषतः सहायक होती है। फिर बोझा ढोने के विविध प्रकारों में भी गो पुरुष ही अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक काम देता है। वस्तुस्थिति तो यही है। यह क्यों है जो जीवनविज्ञान-वेत्ता बतला सकेंगे। पर उस 'क्यों' का उत्तर हमारी जिज्ञासा के लिए आवश्यक नहीं है। वस्तुस्थिति की दृष्टि से गोमाता हमारी जन्मदात्री माता की अपेक्षा मातृत्वधर्म का हमारे लिए अधिक पालन करती है वह जीवनभर हमारा पालन करती है, और प्रकृत माता यदि व्यक्ति का पालन करती है तो गोमाता जाति-भर, मानवतामात्र, के पालन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। मानवी का पुत्र भी जातीय सेवा कर सकता है, परन्तु गोपुत्र की भाँति निर्विकल्प भाव से नहीं, और न उस रूप—अन्नोत्पादनादि के रूप—में ही जो जीवनस्थिति का प्रथम आधार है।

लेकिन मेरी जिज्ञासा इन सब बातों से जरा आगे बढ़ कर एक दूसरी

दिशा में चलती है। हिन्दुओं ने गाय के महत्व को दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक समझा—इसके लिए उपर्युक्त हेतुओं के अतिरिक्त कोई अन्य हेतु भी हो सकता है क्या ? भारतीय आर्यों की संस्कृति, उनकी जीवनधारा, न मालूम कितने सहस्र वर्ष पहले जब कि दूसरी अनेक जातियाँ अपने जातीय रूप में अस्तित्व में भी नहीं आ पाई थीं, एक विशेष दिशा अग्रसर हो चली थी। धन-धान्य की सुलभता और प्राकृतिक वैभव के मनमोहक प्राचुर्य में इस दिशा की प्रेरणा स्वभावतः ही मिली होगी और उसमें अग्रसर होना सुकर रहा होगा, फलतः भारतीय आर्यों द्वारा अध्यात्म-रहस्य का जो गवेषणापूर्ण अनुशीलन हुआ वह ऐसा और इतना हुआ कि अन्ततः वह अध्यात्म-तथ्य ही जीवनसत्ता के, सत्तामात्र के, सत्य रूप में स्थिर हुआ। वह इतना और ऐसा हुआ कि इस समय की दुर्दान्त वैज्ञानिक चेतना भी—भले ही वह उसे यथार्थतः हृदयंगम न कर पाये परन्तु—उसे एकदम निराकृत करने का साहस नहीं कर पाई है। तो फिर, जिज्ञासा यह है कि अध्यात्मतथ्य को जीवनसत्य समझनेवाले इन हिन्दू आर्यों की गो-महिमा में किसी अध्यात्म-हेतु का भी आधार है क्या ?

हिन्दुओं की भाषा में 'गो' शब्द विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है जिनमें तीन मुख्य हैं—गाय, भू और इन्द्रिय। और, किसी शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ ही समय में नहीं बन जाते। एक ही संस्कृति के भीतर वे समय-समय पर, पूर्व अर्थों के सादृश्य पर, अस्तित्व में आते हैं। तब तो गाय, भू और इन्द्रिय का आपस में कोई सादृश्य भी होना चाहिए। अन्न तथा आरोग्यवर्धक और पुष्टिकर द्रव्यों के उत्पादन के नाते 'भू' और 'गो' के अर्थों का साम्य तो कुछ कल्पनीय हो सकता है; परन्तु 'गाय' और 'इन्द्रिय, में क्या साधर्म्य है ?

हिन्दुओं के अध्यात्मवाद ने अवतारवाद की भी अवतारणा की है, यह अवतारवाद सांकेतिक है जिसमें भौतिक सत्ता और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय किया गया है। अवतारों में चरम अवतार कृष्णा-

वतार है जो सोलह कला से पूर्ण होने के कारण सच्चिदानन्द के परिणामस्वरूप आनन्दतत्व का प्रतीक है। आध्यात्मिक हिन्दू के दर्शन में इस आनन्दतत्व में ही जीवन का सारूप्य, जीवन की पूर्णता, है। इसीलिए कृष्ण को पूर्णावतार मानते हैं।

भौतिक जीवन की सपरिमाण अभिधा को प्राप्त होकर कृष्ण मनस्तत्व का प्रतीक बनता है, और वही आनन्दतत्व का भी प्रतीक है क्योंकि 'त्रिगुण लीला से सम्पन्न ब्रह्म मन है और त्रिगुणातीत मन ब्रह्म है।' कृष्ण का, अर्थात् खिलाड़ी बालकृष्ण का, एक अन्य प्रसिद्ध नाम 'गोपाल' या 'गोविन्द' है। और वह 'गोकुल' में रहता है। 'गोपाल' या 'गोविन्द' नाम विवरणात्मक है। यहाँ एक ओर तो हम देखते हैं कि खिलाड़ी मन इन्द्रियों के साथ क्रीड़ा करता है, उनका सम्पोषण करता है। बिना मनःप्रवृत्ति के इन्द्रियाँ बेकार हैं। और, इन्द्रियाँ उसकी क्रीड़ा, अर्थात् आनन्द-तरंग—इन्द्रियों की क्रिया मन को आनन्ददायिनी होती ही है—का उपकरण बनती हैं, उसकी क्रीड़ावृत्ति को पुष्ट करती हैं। दूसरी ओर संकेत-व्यक्ति—भौतिक कृष्ण—ग्वाला है, गायों को चराता है, और उनके दूध-मक्खन का अत्यधिक अनुरागी होना उसकी विशेषता है। कृष्ण की यह सांकेतिकता गाय और इन्द्रियों को एक कक्षा में ला देती है। इस एककक्षात्व का आधार किस प्रकार के समानधर्मी गुण हो सकते हैं?

संकेत में यदि तात्विक मन कृष्ण शरीर है और इन्द्रियवृत्ति गो का रूप धारण करती हैं तो देखना यह होगा कि गोदुग्ध के गुण—कहने को तो गोमल और गोमूत्र के भी गुण—किस प्रकार इन्द्रियवृत्तियों की अनुरूपता ग्रहण करके आनन्दी मनस्तत्व की आनन्दवृत्ति में योग देते हैं। यद्यपि ब्रह्म त्रिगुणातीत है तथापि जब वह मनरूप धारणकर इन्द्रियवृत्तियों का सहयोग प्राप्त करता है तो गुणों की परिभाषा में भी उसका बोध करने की चेष्टा की जा सकती है। इसलिए इस तरह के उपदेश प्रायः दिए जाते हैं कि मनुष्य को तमोगुणी न होना चाहिए, सत्वगुणी

होना चाहिए, आदि। गुणों की परिभाषा में कदाचित् कोई यह कहें कि शुद्ध आनन्दतत्व शुद्ध सत्वगुण के मेल में अवस्थित होता है। परन्तु इसके स्थान में यह क्यों न कहें कि सत् और चित् के आधारतत्वों से परिणामतः प्राप्त जिस आनन्दतत्व की प्रतिष्ठा होती है वह रजस्तम के तत्वों की आधारशिला पर प्रतिष्ठित सत्वगुण के मेल में अवस्थित होता है। ऐसा कहने में रजस्तम और सच्चित् का निराकरण नहीं होता—क्योंकि किन्ही द्रव्यों, तत्वों अथवा अवस्थाओं के परिणाम में उन द्रव्यादिक के गुणतत्वों का भी अस्तित्व स्वीकार्य होता है—परन्तु प्रतिष्ठा सत्व या आनन्द की, अर्थात् परिणाम की, ही होती है, तब यदि एक ओर आनन्दी कृष्णतत्व को सात्विक मन का रूप दिया जा सकता है, तो दूसरी ओर हम यह भी सुनते हैं कि गाय का दूध अपने परिणाम में सात्विकता-प्रधान है। गाय के मल-मूत्र को इन्द्रियों के वृत्तिभेद का रजस्तमःप्रधान वह अतिरिक्त प्रसार माना जा सकता है जो सामाजिक दृष्टि में दूषित दीखता हुआ भी अतिरेकमूलक दोषों का विरेचन करता है और इस प्रकार उन्हें दूर करता है।

यह बात मैंने केवल आनुमानिक ढँग से कही है। परन्तु मेरा अनुमान यदि किसी अंश में ठीक है तो आध्यात्मिक जीवन के लिए गऊ से प्राप्त द्रव्यों की उपयोगिता माननीय हो जाती है, जिसका मतलब फिर यह भी होता है कि आध्यात्मिक जीवन ही यदि सत्य जीवन है तो भौतिक अस्तित्व में गो उस जीवन का एकमात्र आधार-स्वरूप, मातृ-रूप, है। परन्तु इस अनुमान की सत्यता का निर्णय उन दुर्लभ पंडितों द्वारा किया जा सकेगा जो रसायन-विज्ञान, शक्ति-विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान के विद्वान् होने के साथ-साथ अध्यात्म-जीवन में विश्वास रखने वाले तथा उसके थोड़े-बहुत अभ्यासी भी हों। उनसे हम पूछेंगे कि अलग-अलग इन्द्रिय-वृत्तियों के पृथक्-पृथक आनुरूप्य में उन इन्द्रियों के कर्मों को ऐसी सत्वप्रधान सीमा में रखने वाले कौन से विज्ञानानुमत तत्व गो-पदार्थों में जो 'गोपाल' मन को 'अच्युत' रखने में भी सहायक हों और, इस

प्रकार, उसे आनन्द-पराकाष्ठा में स्थित और स्थिर रहने में भी सहायता दे सकें। इसी से मिला-जुला एक प्रश्न यह भी है कि विभिन्न इन्द्रिय वृत्तियों को किसी एकोन्मुख सदाचारवृत्ति में परिणत अथवा विकसित करने वाले कोई रासायनिक या प्राणितत्व-सम्बन्धी गुण भी गोदुग्ध में हैं क्या, जिससे मानसिक आनन्द को इन्द्रिय-जन्य विविधता में भी एक समाहार-स्थिति पैदा हो सके।※

※ नवयुग

८

पाश्चात्य देशों में वेदों का अध्ययन

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में एक बड़ी अश्रुतपूर्व और अद्भुत क्रान्ति उपस्थित हुई थी। जिन दो विशाल पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्यों में यूरोप पहले बँटा हुआ था वे मटियामेट हो चुके थे। कुस्तुन-तुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो गया था और रोमन चर्च एक छोटी-सी ज़मींदारी-भर रह गया था। पंचम निकोलस ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के वहिष्कार और नई पोपीय नीति की घोषणा करवा दी थी। इसी समय पहले-पहल छापे के प्रेस का भी आविष्कार हुआ। इस बाहरी क्रान्ति के फलस्वरूप एक दूसरी भीतरी क्रान्ति की उत्पत्ति हुई जिसके प्रभाव से मध्य युग के लोगों के धार्मिक और सामाजिक विश्वास डिग गए, लोग पुरानी बातों को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे, प्राचीन साहित्य के पढ़ने और विद्योपार्जन करने का सर्वत्र उन्माद-सा छा गया। मध्ययुग ने नवयुग को स्थान दिया जो, केवल यूरोप के ही नहीं, संसार के समस्त ईसाई-मंडल के भूत और भावी इतिहास की एक अमर घटना है।

इसके बाद संसार की मानसिक और नैतिक अभिवृद्धि के इतिहास में यदि कोई दूसरी सर्वव्यापक प्रभाववाली घटना हुई है तो वह पाश्-चात्य देशों में संस्कृत भाषा का प्रचार है। यद्यपि यूरोपीय लोगों को अब से बहुत पहले भी, सिकन्दर और मेगास्थनीज़ के समय में, भारत के साहित्य और ज्ञान का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त हो गया था, तथापि उनके स्थायी परिज्ञान और तुलनामूलक अध्यापन का बीज भारत में अंग्रेज़ों

के आने के बाद ही बोया गया। इस बीज से थोड़े ही समय के भीतर इतना बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो गया है कि अब स्वयं सर्वज्ञ ऋषियों की हिन्दू सन्तान को अपने प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने के लिए इसी वृक्ष की छाया के नीचे बैठना पड़ता है। बात गम्भीरता से सोचने की है कि जहाँ अंग्रेज़ी और जर्मन भाषाओं में वेदों के एक से अधिक अनुवाद मौजूद हैं वहाँ हम भारतीय अपने 'वेद' शब्द के यथार्थ तात्पर्य को भी नहीं जानते। जर्मन भाषा में संस्कृत का एक ऐसा कोष है जिसकी रचना इतिहासमूलक और तुलनात्मक रीति पर की गई है। किसी और प्राचीन भाषा का ऐसा कोष अभी तक नहीं बना है।

धर्म-प्रचार के अभिप्राय से भारत में ईसाई पादरियों का आना पहले-पहल सोलहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। यहाँ उन्होंने शंकराचार्य और बौद्धों में होने वाले पुराने शास्त्रार्थों की बात सुनी। शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले एक बहुत बड़े कड़ाह में तेल भर कर आग के ऊपर रख दिया जाता था और जो आचार्य हारता वह या तो प्रतिपक्षी के मत को ग्रहण कर लेता था या अपने को उस जलते कड़ाह में डालने के लिए बाध्य होता था। इस प्रकार शंकराचार्य ने असंख्य बौद्धों को अपने मत में मिला लिया था या, फिर, वे उनकी मृत्यु का कारण बने थे। यह किम्वदन्ती सुन कर ईसाई पादरी ब्राह्मणों की विद्वत्ता से बड़े भयभीत हुए। अतएव उन्हें भारतीय साहित्य से परिचित हो लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भारत में आए हुए इन धर्म-प्रचारकों में से राबर्टस डिनोबिलिटस नामक एक पादरी ने वाद-विवाद में हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों से हवाले देने की ज़रूरत समझी। उसने 'यजुर्वेद' शब्द के अनुकरण पर 'एज़ूर, वेदम्' नाम की एक पुस्तक लिखी। इसमें ईसाई सिद्धान्तों का समर्थन किया गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ध्वनि और तात्पर्य में यह पुस्तक मुसलमानों के 'अल्लोपनिषद्' का अग्रगामी ईसाई अवतार थी परन्तु राबर्टस की धूर्तता प्रकाशित होने से पहले ही उसका यूरोप में

प्रचार हो चुका था और उसे पढ़ कर वाल्टेयर जैसे विद्वान् लेखक ने हिन्दुओं के ज्ञान और अध्ययन की प्रशंसा में लेख लिख कर यूरोप के पंडितों की जिज्ञासा को जाग्रत कर दिया था।

यूरोप में वैदिक साहित्य के अध्ययन का आरम्भ संस्कृत से ही हुआ है। भारत में शासन की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर वारेन हैस्टिंग्स ने मुख्य-मुख्य हिन्दू धर्म-शास्त्रों का एक सार तैयार करने के लिए पंडितों को नियुक्त किया। इन पंडितों ने जो पुस्तक तैयार की उसका सन् १७७६ में अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित हुआ। धीरे-धीरे भारत में आए हुए अंग्रेज़ लोग भी संस्कृत पढ़ने लगे। सन् १७८५ में चार्ल्स विल्किन्स ने अपना भगवद्गीता का अनुवाद प्रकाशित किया। परन्तु पश्चिम को भारतीय साहित्य से परिचित कराने में सब से बड़ा काम सर विलियम जोन्स ने किया है। सर विलियम जोन्स भारतमें ग्यारह वर्ष तक रहे। सन् १७८४ में इन्होंने 'एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल की स्थापना की और सन् १७८९ में शकुन्तला का अनुवाद कर जर्मनी के अमर कवि गेटे के मुख से वे गौरव-भरे शब्द[1] कहलाए जिन्हें भारतीय कभी नहीं भूल सकते।

अगली शताब्दी के आरम्भ में एक और महत्वपूर्ण बात हुई। सन् १८०२ में एलेक्ज़ेन्डर हैमिल्टन नाम का एक अंग्रेज फ्रांस होता हुआ भारत से इंग्लैंड जा रहा था। परन्तु उन्हीं दिनों फ्राँसीसियों और अंग्रेज़ों में लड़ाई छिड़ जाने के कारण नैपोलियन ने फ्रांस-स्थित तमाम अंग्रेज़ों को नज़रबन्द कर लेने की आज्ञा घोषित करवा दी। हैमिल्टन पैरिस में रोक लिया गया, जहाँ उसे बहुत समय तक रहना पड़ा। यहाँ उसने अपना अधिकांश समय फ्रांसीसी विद्वानों को संस्कृत पढ़ाने में बिताया इन संस्कृत सीखने वालों में जर्मन कवि श्लीगल भी था, जिसने अपने अध्ययन के बाद, १८०८ में, भारतवासियों की भाषा और उनके ज्ञान पर एक महत्वपूर्ण

1. "Woulds't thou Heaven and Earth in one sole name combine ?
I name thee, O S'akuntala, and all at once is said,"

ज्ञाता गिने जाने लायक हैं।

तीन वर्ष बाद जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक रोजेन ने कोलब्रुक की इकट्ठा की हुई हस्तलिखित पुस्तकों को पढ़ा और उनसे वैदिक साहित्य के सच्चे महत्व का पता लगाया। बड़े उत्साह से उन्होंने ऋग्वेद का सम्पादन करना आरम्भ किया और शायद वह बहुत-कुछ काम करते; परन्तु अभी पहला अष्टक और उसका लेटिन अनुवाद प्रकाशित भी न हो पाया था कि सन् १८३७ में उनकी मृत्यु हो गई।

सन् १८४३ में रुदोल्फ़ रोत के लेख ने[1] वैदिक अध्ययन में एक नया युग उपस्थित किया और तभी से वेदों के पठन-पाठन का वास्तविक कार्य ज़ोर-शोर से शुरू हुआ। रुदोल्फ़ रोत वैदिक अध्ययन की वैज्ञानिक रीति के जन्मदाता हैं। अब तक वेदों के बारे में जो कुछ पढ़ा-लिखा गया था वह सब देशी भाष्यकारों पर निर्भर रह कर। परन्तु रुदोल्फ़ ने अपने लेख में यह कहा कि वेद का सब से अच्छा भाष्य स्वयं वेद ही है। सायण के भाष्य से सहायता न लेकर उन्होंने ऋग्वेद के समझने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोगों के समान उदाहरणों को इकट्ठा किया और उनके द्वारा कठिन तथा अस्पष्ट वाक्यों के अर्थ निर्धारित किए। बोथलिंक के सहयोग से उन्होंने एक वृहत् संस्कृत-जर्मन-कोष[2] की रचना की, जिसमें उन्होने अपने वैज्ञानिक ढँग से ही काम लिया है इस कोष का वैदिक अंश स्वयं रोत ने बनाया और उसका संस्कृत अंश बोथलिंक ने। रोत ने निघंटु और निरुक्त का भी सम्पादन किया, जिसमें उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी टिप्पणियाँ दी हैं और यास्क की अनेक वैदिक परिभाषाओं को, भिन्न-भिन्न शब्दों के यथार्थ वैदिक प्रयोगों के आधार पर, शुद्ध करने की चेष्टा की है।

रोत के बाद आजेन व्योरनूफ़ का नाम स्मरणीय है। व्योरनूफ़ फ्राँसीसी विद्वान् थे। परन्तु इन्हें हम इनके लिखे हुए बहुत अधिक

---

1. Zur Literature and Geschichte des Veda Sanskrit werter buch.
2. Academische Vorlesungen uber Indische Literature geschichte.

ग्रन्थों के अथवा रोत की भाँति किसी नए अध्ययनतत्व का आविष्कार करने के कारण नहीं जानते हैं। ये वैदिक साहित्य के पंडित थे और मैक्समुलर के गुरु थे।

इसके बाद ह्वेबेर और बेनफे वैदिक साहित्य के अखाड़े में उतरे। दोनों जर्मन थे और समकालीन थे। ह्वेबेर ने सन् १८५२ में भारतीय साहित्य पर एक पुस्तक लिखी, जिसका अनुवाद अंग्रेजी में हो गया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से मालूम होता है कि ह्वेबेर का वेद-सम्बन्धी ज्ञान कितना अधिक था और उन्होंने कितने परिश्रम से वैदिक साहित्य के एक-एक ग्रन्थ को देखा था। शायद उनके अनुमानों से हम कहीं-कहीं सहमत न हों, तथापि उनके विस्तृत अध्ययन और भारी पांडित्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। यह एक रिसाला[1] भी निकालते थे, जो भारतीय साहित्य के वेद-व्याकरण-दर्शन-आदि भिन्न-भिन्न अंगों की दृष्टि से एक अमूल्य निधि के समान है।

ह्वेबेर ने शुक्ल यजुर्वेद का भी तीन भागों में सम्पादन किया है। पहले भाग में संहिता, महीधर का भाष्य और माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं के पाठ-भेद दिए गए हैं। दूसरे भाग में शतपथ ब्राह्मण और स्थान-स्थान पर उसका भाष्य है। तीसरे भाग में कात्यायन श्रौत सूत्र तथा कर्क-भाष्य के अंश दिए हुए हैं। शुक्ल यजुर्वेद का यह संस्करण एक बहुमूल्य वस्तु है।

बेनफे ने अधिकतर संस्कृत-व्याकरण, वैदिक व्याकरण और स्वर तथा दर्शन के ऊपर लिखा है। उनके अनेक निबन्धों के अतिरिक्त उनका लिखा हुआ एक संस्कृत-साहित्य का इतिहास और एक संस्कृत-कोष भी विद्यमान है।

बेनफे और ह्वेबेर के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े संस्कृतज्ञ मैक्समुलर थे। मैक्समुलर का नाम भारत में बहुतों को ज्ञात है। उनके नाम का हिन्दू रूप 'मोक्षमूलर' है, जिसको प्रोफ़ेसर ब्लूमफ़ील्ड ने

1. Indische Studien.

बड़ी अच्छी व्याख्या की है। यह नहीं कहा जा सकता कि मैक्समुलर हिन्दुओं के 'मोक्ष' में विश्वास रखते थे अथवा नहीं, परन्तु यदि 'मोक्ष' का अर्थ मन और बुद्धि की निर्मलता तथा स्वतंत्रता हो सकती है तो वह अवश्य 'मोक्षमुलर' थे।[1] प्रोफ़ेसर मैक्समुलर किस प्रकार इतने बड़े संस्कृतज्ञ हुए और किस भाँति उन्होंने ऐसा लोकविश्रुत नाम पाया, यह एक मनोरंजक कथा है।

फ्रेडरिक मैक्समुलर ने सन् १८२३ में एक जर्मन परिवार में जन्म ग्रहण किया था। मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास करने के बाद लीपसिंग विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ब्रॉकहैन्स की प्रेरणा से इन्होंने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया। जब इनकी आयु इक्कीस साल की थी तब वह बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर बॉप्प की कृपा से तुलनात्मक भाषा विज्ञान के एक अच्छे वेत्ता हो गए थे। इसके बाद ये पेरिस जाकर ऑजेन ब्योरनूफ़ के शिष्य हुए। उनसे जेन्द पढ़ते थे। एक वर्ष बाद, अर्थात् १८४५ में, इन्होंने तुलनात्मक-धर्म-गवेषणा के कार्य में लग कर पूरे ऋग्वेद का सम्पादन करने का विचार किया। सन् १८४६ में ये अपने इरादे को पूरा करने के विचार से इंग्लैंड गए और वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों से मिले। उनकी सहायता करने के लिए बन्सेन और प्रोफ़ेसर विल्सन ने मिल कर ईस्ट इंडिया कम्पनी को ऋग्वेद के प्रकाशन का व्ययभार वहन करने के लिए राजी कर लिया। सन् १८४८ में आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में पुस्तक छपने लगी और मैक्समुलर को उसकी देख भाल के लिए वहाँ ठहरना पड़ा। इस बीच में उन्होंने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया और दो वर्ष बाद वह वहीं आधुनिक भाषाओं के प्रोफ़ेसर हो गए। सन् १८६० में जब प्रोफ़ेसर विल्सन की मृत्यु हुई तब उन्हें आशा थी कि उनके स्थान पर वही संस्कृत के प्रोफ़ेसर बनाए जाएंगे। परन्तु अंग्रेजों के जातीय पक्षपात के कारण इनकी यह आशा सफल न हुई और संस्कृत की प्रोफ़ेसरी मोनियर विलियन्स को दे दी

1. Bloomfield : Religion of the Veda.

गई। फिर सन् १८६८ में, मोनियर विलियम्स के मरने पर, यह पद उनको मिला।

प्राचीन भारतीय साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं है जिस पर मेक्स-मुलर ने न लिखा हो। उनमें बड़ी खूबी यह थी कि उनके हृदय में काफ़ी सहानुभूति थी। बिना सहानुभूति के किसी भी जाति के साहित्य, उसके रस्मो-रिवाज़ आदि का अध्ययन उचित प्रकार से नहीं हो सकता। सायण भाष्य के सहित ऋग्वेद का प्रकाशन करके मैक्समुलर ने वैदिक अध्ययन को बड़ी सुदृढ़ नींव पर स्थापित कर दिया था। उनका 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' अभी तक भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

मैक्समुलर ने अपने सम्पादकत्व में 'सैक्रेड बुक्स आव् दि ईस्ट' नाम की एक ग्रन्थमाला निकालनी आरम्भ की थी। इस माला में हिन्दू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, चीनी आदि जातियों के धार्मिक तथा प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित होते हैं। स्वयं मैक्समुलर के लिए उपनिषदों तथा ऋग्वेद के मरुतों और अग्नि के सूक्तों के अनुवाद इसमें निकले हैं। मैक्समुलर ने 'धर्म' और 'देवता' विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और 'धर्म की उत्पत्ति और विकास' पर दिए हुए उनके व्याख्यान[1] हिन्दू धर्म का एक ख़ासा संक्षिप्त इतिहास हैं।

अंग्रेज़ वैदिक विद्वानों में इस स्थान पर मुइर का नाम उल्लेखनीय है। मुइर बड़े परिश्रमी और तेज़ तबीयत वाले व्यक्ति थे। भिन्न-भिन्न बातों को इकट्ठा करने और उनसे सिद्धान्त निकालने में यह बड़े पटु थे। इनकी 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स' संस्कृत पढ़ने वालों के लिए बड़ी अमूल्य वस्तु है। पुस्तक पाँच भागों में है और प्रत्येक भाग एक-एक विषय को लिए हुये है। पहले भाग में वर्णविभाग की उत्पत्ति और युग में उसके अस्तित्व या अनस्तित्व पर विचार किया गया है। दूसरे भाग में हिन्दुओं के हिमालय पार से आने तथा आर्य जाति की पश्चिमी

---

1. Hibbert Lectures on the Origin and Growth of Religion, as illustrated by the Indian Religion.

शाखाओं के साथ उनकी समानताओं की चर्चा है। तीसरे भाग में वेदों तथा उनकी उत्पत्ति और प्रामाणिकता आदि के सम्बन्ध में वेदकारों तथा उनके बाद के ग्रन्थकारों की सम्मतियों का ज़िक्र है। चौथे भाग में वैदिक देवताओं तथा उनके उत्तरकालिक प्रतिनिधियों की तुलना की गई है। पाँचवें भाग में वैदिक आर्यों के रहन-सहन, रीति रिवाज, धार्मिक विश्वास तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचारों आदि का वर्णन है। पुस्तक में सर्वत्र उदाहरण और पुष्टि के लिए, ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक, हर जगह से उद्धरण और उनके अंग्रेज़ी अनुवाद दिए गए हैं।

इस स्थान पर डाक्टर हॉग के ऐतरेय ब्राह्मण के संस्करण का भी ज़िक्र कर देना उचित होगा, विशेषतः इसलिए कि उसमें दी हुई पांडित्यपूर्ण भूमिका के कारण यह पुस्तक बहुत उपयोगी हो गई है। डाक्टर हॉग का मत है कि यजुर्वेद ऋग्वेद से पुराना होना चाहिए; परन्तु इस विषय में उनके अनुयायी बहुत कम हैं।

विल्सन साहब ने ऋग्वेद का अनुवाद किया है। यह अनुवाद सब से पुराना है। विल्सन की राय थी कि कोई यूरोपीय विद्वान् वेदों को देशी भाष्यकारों की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं समझ सकता। अतएव सायण भाष्य की त्रुटियों को समझते हुए भी उन्होंने ऋग्वेद का अनुवाद सायण के आधार पर ही किया है। इस कारण यद्यपि इस अनुवाद में मौलिकता कोई विशेष गुण नहीं है तथापि सायण को समझने के लिए वह विशेष रूप से उपयोगी है।' विल्सन के दो अन्य ग्रन्थ, हिन्दू 'थियेटर' और विष्णुपुराण का अनुवाद, भी प्रसिद्ध हैं; परन्तु उनका वर्णन यहाँ असंगत होगा।

ऋग्वेद के अनुवादों में लुड्विग और ग्रासमैन के जर्मन अनुवादों को न भूलना चाहिए। लुड्विग का अनुवाद गद्य में है और ग्रासमैन का पद्य में। ये दोनों अनुवाद इस विश्वास पर किए गए हैं कि देशी भाष्यकार आलोचनात्मक दृष्टि से शून्य हैं, अतएव उनके भाष्य अशुद्ध हुए बिना नहीं रह सकते। इसी से इन अनुवादकों ने कहीं-कहीं बड़े विकट

अनुमानों से काम लिया है जिन्हें ग्रहण करते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, ग्रासमैन ने १८७३-७५ में ऋग्वेद का एक संस्कृत-जर्मन-कोष भी प्रकाशित कराया, जिसमें प्रत्येक शब्द के साथ-साथ उन तमाम स्थलों के उद्धरण दिए गए हैं जहाँ ऋग्वेद में उसका प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद के पढ़ने वालों के लिए यह कोष बड़े काम का है।

ऋग्वेद का एक संस्करण रोमन में भी मौजूद है। एक दूसरा रोमन संस्करण ऐतरेय ब्राह्मण का भी है। इन दोनों का श्रेय ऑफ़्रेश्त को प्राप्त है। ऋग्वेद पर एदोल्फ़ केगी की एक छोटी सी पुस्तक है, जिसका अंग्रेज़ी में अनुवाद हो गया है। पुस्तक विचार शीलता और सहानुभूति के साथ लिखी गई है।

गेल्दनर और पिशेल ने 'वैदिक स्तुदिएन' नामक एक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक तीन भागों में है और दीर्घ काल के परिश्रम का फल है। ऋग्वेद के बहुत से मुख्य शब्दों का, जिनका अभिप्राय सन्दिग्ध या अस्पष्ट है, वैदिक तथा वेद-सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा, अर्थनिर्णय किया है। गेल्दनर ने भारतीय धर्म पर भी एक पुस्तक लिखी है। वह एक और पुस्तक[1] भी प्रकाशित कर रहे हैं, जिसमें ऋग्वेद के चुने हुए सूक्त दिए गए हैं। इसके दो भाग निकल गए हैं। पहले में चुने हुए अंशों का एक कोष है और दूसरे में उनके ऊपर लेखक की टिप्पणी आदि। तीसरा भाग, जिसमें मूल अंश दिए होंगे, शीघ्र ही छपने वाला है। हाल में ही उन्होंने समस्त ऋग्वेद का अनुवाद करना भी आरम्भ किया है। इस ग्रन्थ का पहला भाग जिसमें पहले चार मंडलों का अनुवाद है, छप गया है, गेल्दनर अवेस्ता के भी विद्वान् हैं।

किसी साहित्य में पारदर्शी होने के लिए उसके व्याकरण का ज्ञान बड़ा ज़रूरी है। पाश्चात्यों ने अभी तक जितने संस्कृत-व्याकरण के ग्रन्थ लिखे थे सब इकतरफ़ा थे—केवल वेदों के बाद की संस्कृत से ही सम्बन्ध रखते थे। प्रोफ़ेसर ह्विटनी का व्याकरण का ग्रन्थ अपने ढँग का

1. Rigveda in Auswahl.

पहला है। सब से पहली बार इस व्याकरण में संस्कृत मुहावरों को वैदिक मुहावरों के साथ मिला कर रक्खा गया है और शब्दों के रूपों की विवेचना इतिहासमूलक दृष्टिकोण से की गई है, वैदिक स्वरोंपर जो परिच्छेद हैं वे भी बड़े काम के हैं।

ह्विटनी और गार्वे ने मिल कर अथर्ववेद-संहिता का सम्पादन किया है और ह्विटनी ने 'हारवार्ड ओरिएंटेल सिरीज़' के लिए उसका अनुवाद किया है, जो प्रकाशित हो गया है। ह्विटनी ने अन्य वैदिक विषयों पर भी कई निबन्ध लिखे हैं।

हाल में ही प्रोफ़ेसर ओल्देनबर्ग ने भागों में ऋग्वेद पर अपनी टिप्पणी[1] प्रकाशित की है। अब तक जो कुछ भी जिस किसी भाषा में ऋग्वेद के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है उस सबके उन्होंने स्थान-स्थान पर हवाले दिए हैं। इससे पुस्तक बड़े महत्व की हो गई है। उन्होंने वैदिक धर्म पर भी एक पुस्तक लिखी है और 'सैक्रेड बुक आव् दि ईस्ट' ग्रन्थमाला के लिए गृह्यसूत्रों तथा ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों के अनुवाद किए हैं। हिन्दू तथा वैदिक विषयों पर उनकी और भी अनेक किताबें हैं तथा उन्होंने वैदिक छन्दों के ऊपर भी एक ग्रन्थ लिखा है। प्रोफ़ेसर ओल्देनबर्ग पाली और बौद्ध धर्म के भी ज्ञाता हैं।

प्रोफ़ेसर वेबर के नाम से सब संस्कृतज्ञ परिचित हैं, यह हिन्दुस्तान में भी कई वर्ष तक रह चुके हैं, इन्होंने 'सैक्रेड बुक आव् दि ईस्ट' ग्रन्थमाला के लिए, अन्यान्य ग्रन्थों के अतिरिक्त, कई धर्मसूत्रों के अनुवाद किए हैं। इसके सिवा इन्होंने हिन्दू-आर्य-सम्बन्धी एक ग्रन्थमाला[2] की स्थापना की और स्वयं उसके खोज-विभाग के सम्पादक बने।

आधुनिक विद्वानों में प्रोफ़ेसर मैकडानेल, प्रोफ़ेसर कीथ और प्रोफ़ेसर ब्लूमफ़ील्ड विशेष ख्याति को प्राप्त हैं। मेकडानेल आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के बोडेन प्रोफ़ेसर हैं और अभी, दो साल हुए, वह कलकत्ते

1. Rigveda, text Kritische und oxegetische Noten.
2. Gumdiiss der Indo-arischen Philolagie und Athums Kunde.

में व्याख्यान देने के लिए आ चुके हैं। कीथ उनके शिष्य हैं और एडिनबरा में प्रोफ़ेसर हैं। गुरु और शिष्य में मिल कर एक बहुत ही उपयोगी ग्रन्थरत्न प्रकाशित कराया है, जिसमें वैदिक साहित्य में आए हुए प्रत्येक शब्द, नाम और विषय का उसके हवालों के सहित पूरा-पूरा वर्णन है। वास्तव में यह पुस्तक कीथ ने ही तैयार की है। मैकडानेल ने केवल इधर-उधर जोड़-तोड़ करके उसकी सामग्री को सिलसिलेवार जमा दिया है। इन्होंने वैदिक विषयों पर बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं।[1] इस समय मैकडानेल 'हार्वर्ड ओरियेन्टेल सिरीज़' के लिए ऋग्वेद का एक अनुवाद तैयार कर रहे हैं।

प्रोफ़ेसर कीथ ने ऐतरेय आरण्यक और शांखायन आरण्यक का सम्पादन और अनुवाद किया है। उन्होंने 'हार्वर्ड ओरियेन्टेल सिरीज़' के लिए तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, और शांखायन ब्राह्मण के भी अनुवाद किए हैं। पश्चात्कालीन संस्कृत और दर्शन आदि पर भी कीथ ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

प्रोफ़ेसर ब्लूमफ़ील्ड अमरीकन हैं। इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'वैदिक कंकार्डेन्स' (Vedic Concardance) है। 'सैक्रेड बुक अव् दि ईस्ट' ग्रन्थमाला के लिए इन्होंने अथर्ववेद का अनुवाद किया। वैदिक धर्म पर इनकी एक पुस्तक अमरीका में छपी है। एक पुस्तक में इन्होंने ऋग्वेद की पुनरुक्तियों का संग्रह किया है, जो 'हार्वर्ड ओरियेन्टेल सिरीज़' में छपी है। ब्लूमफ़ील्ड ने वैदिक विषयों पर बहुत से लेख भी लिखे हैं इस समय ऋग्वेद का अनुवाद करने का इनका विचार है।

संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में जितना काम जर्मनी के

---

1. इनके कुछ ग्रन्थों के नाम ये हैं—

1. Sarvanukramani of the Rigveda ;
2. Vedic Mythology (Gumdriss eries) ;
3. Edition of the Vrihaddevata of S'aunaka (H.D.S) ;
4. Vedic Grommar (Gumdriss Series) ; यह एक बहुत बड़ी पुस्तक है;
5. Vedic Grammar for Students ;
6. Vedic Reader for Students ;
7. History of Sanskrit Literature,

विद्वानोंने किया है उतना किसी दूसरे ने नहीं किया। कुछ काम फ्रांसवालों ने भी किया है। परन्तु जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में लिखा गया साहित्य छोटी सीमाओं के ही भीतर बन्द रहा, इसलिए उसके लेखकों के नाम को हर-कोई न जान सका। मैक्समुलर की प्रसिद्धि इसी कारण हुई कि वह इंलैंड में रहे और उन्होंने अंग्रेजी में लिखा। परन्तु कई सच्चे विद्वानों के नाम से हम बिलकुल भी परिचित नहीं हैं। मैकडानेल 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', यदि देखा जाए तो, विएना के प्रोफ़ेसर श्रोदर की पुस्तक[1] का ही रूपान्तर है। प्रोफ़ेसर श्रोदर ने कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिताओं का सम्पादन किया है और इनसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अनेक लेख लिखे हैं।

प्रोफ़ेसर हिल्लेब्रॉत ने 'बिब्लियोथिका इंडिका' में शांखायन श्रौत सूत्र को सम्पादित किया है। उनकी 'वैदिक मैथालजी' (Vedische Mythologie), जो तीन भागों में है, बड़ी ही श्रेष्ठ पुस्तक है। उनके किए हुए ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के अनुवाद गोतिंगेन से प्रकाशित हुए हैं। उनका 'रिटुअल लितरेथर' (Ritual literathur) नामक ग्रन्थ बेंलर की ग्रन्थमाला में छपा है।

हालैंड के प्रोफ़ेसर कालॉद वैदिक काल की रस्मों के विशेषज्ञ हैं। बिब्लियोथिका इंडिका में उन्होंने बोधायन श्रौत सूत्र का सम्पादन किया है तथा कुछ धार्मिक रस्मों के ग्रन्थों का भी अनुवाद किया है। इस समय वह शतपथ ब्राह्मण का सम्पादन कर रहे हैं। प्रोफ़ेसर कालॉद सामवेद के साहित्य में भी प्रामाणिकता के आसन को प्राप्त हैं। फ्रांस के प्रोफ़ेसर विक्टर हेनरी की सहयोगिता में उन्होंने अग्निष्टोम-याग के ऊपर एक पुस्तक लिखी है।

फ्राँसीसी विद्वान् बरगें की 'ला रिलिजन वेदिके' (La Religign Vediague) और रेग्नो की 'वेदिके लिंग्विस्तिक' (Vedigue Lingui

1. Indiens Literature und Kultur. उनकी अन्य दो पुस्तकों के नाम हैं—Arische Religion Mysterinn और Mimus in Rigveda.

sti) तथा विंतरनितृज़ का 'भारतीय साहित्य का इतिहास' प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। त्सिमर का Altindisches Leben वैदिक भूगोल, वैदिक जीवन, वैदिक सभ्यता आदि के सम्बन्ध में एक बहुमूल्य ग्रन्थ है। एगलिंग ने 'सैक्रेड बुक्स आव् दि ईस्ट' के लिए शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद किया है। प्रोफ़ेसर लैनमैन की 'नाउन इन्फ्लेक्शन इन दि ऋग्वेद' भी अपनी तरह की एक ही पुस्तक है। डाक्टर आरनल्ड ने' हिस्टीरिकल वैदिक ग्रामर' लिखी है और उनकी 'वैदिक मीटर' उनके अध्यवसाय और धैर्य का एक सुन्दर नमूना है। वैदिक छन्दों का छानबीन के साथ अध्ययन करने वालों के लिए यह पुस्तक परमावश्यक है।

यही नहीं कि पश्चिमी पंडितों की जिज्ञासा केवल पढ़ने और ग्रन्थ लिखने में ही समाप्त हो गई हो। पश्चिम में पौर्वात्य सभ्यता और साहित्य का अध्ययन करने के लिए बड़ी-बड़ी सुसंगठित संस्थाएँ स्थापित हैं और वहाँ से केवल प्राच्य विषयों से ही सम्बन्ध रखने वाले बड़े-बड़े और बहुमूल्य पत्र निकलते हैं[1]।

भारत से जो दो एक इस तरह के पत्र निकलते हैं उनके जन्मदाता भी विदेशी ही हैं। उनका परिचय देना इस लेख का विषय नहीं है। प्रसंगवश उनकी याद आ जाना स्वाभाविक है और यह याद आत्मग्लानि उत्पन्न करने वाली है। अपने ही घर में अपना काम ग़ैरों के द्वारा होता देख कर हमको अब उसे अपने हाथ में लेना चाहिए। हमें अपनी इस

---

1. यथा—(१) Royol Asiatic Society of Great Britain and Ireland. का पत्र,
(२) जर्मन-प्राच्य-समिति का पत्र (Z. D. M. G.);
(३) विएना-प्राच्य-समिति का पत्र (Z. K. M. G);
(४) American Oriental Society का पत्र (J. A. D S);
(५) Ameri an Philological Association का पत्र;
(६) तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पत्र। इसका पूरा नाम है—
Zeitschift for verglei chende sprachforscung; इत्यादि।
इंग्लैंड की रायल एशियाटिक सोसाइटी की एक शाखा बम्बई में भी है।

हेय दशा की ओर ध्यान देना चाहिए। हमारे धर्म-मुल्ला की दौड़ पुराण और शास्त्र की मसजिद से आगे नहीं बढ़ती। किसी ब्राह्मण के धार्मिक विश्वास में ज़रा सी आपत्ति करो और वह कह उठेगा, 'क्या शास्त्र और पुराण झूठ कहते हैं ?' यहाँ 'शास्त्र' का तो अर्थ ही अव्यक्त और अस्पष्ट है और 'पुराण' के शायद उसने कभी दर्शन तक नहीं किए हैं। तथापि, 'शास्त्र और पुराण उसकी समझ में हिन्दुओं के अति प्राचीन धर्मग्रन्थ हैं। वेदों का नाम केवल भक्ति-भाव से सुनने भर के लिए रह गया है। अतएव अपने ऋषियों और प्राचीन गौरव के नाम पर झूठमूठ का मरना छोड़ कर हमें अब अपनी प्राचीन निधि को सच्चे दिल से ढूँढने की कोशिश में लग जाना चाहिए। नहीं तो बाहर के लोग चाहे जो कुछ कर ले, हमारी चीजहमारे लिए सदा खोई हुई के समान ही बनी रहेगी।*

---

*सरस्वती, भाग २६, संख्या ५, मई सन् १९२५।

६

वेदों का आदिम मनुष्य

विकास की प्राथमिक अवस्था में प्रायः कार्य-कारण के सम्बन्ध का आभास पाने लगता है। जिन वस्तुओं से वह अपने को घिरा पाता है उनके प्रारम्भ के विषय में एक अस्फुट जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उसके भीतर उत्पन्न होने लगती है। वह अपने विषय में भी सोचने लगता है। वह अब अपनी स्वयम्भू सत्ता को चुपचाप अङ्गीकार नहीं कर लेता, बल्कि वह सोचता है कि किसी-न-किसी वस्तु से उसकी उत्पत्ति अवश्य हुई है। सर्वोत्पादक एक ईश्वरीय पिता की कल्पना उसकी इस प्रारम्भिक जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पाती। दुर्निरूप पदार्थ की सुग्राह्य कल्पना एक अधिक ऊँचे विकास की वस्तु है। प्रारम्भिक मनुष्य अपने चारों ओर के दृश्य पदार्थों में ही अपने कारण को ढूँढ़ता है।

मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का रूप अपने आरम्भ में सर्वत्र एक ही सिद्धान्त का अनुसरण करता है। बाद में उसका रूप, उसकी दिशा, उसका विकास आदि स्थान-भेद के कारण बदलने लगते हैं। प्रारम्भिक मनुष्य के सामने जो समस्या एक स्थान में उपस्थित हुई थी वही अन्य स्थानों में भी उपस्थित हुई होगी। इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह मत है कि प्राचीन काल में वर्तमान यूरोप और एशिया की अधिकांश जातियाँ किसी एक ही स्थान में रहती थीं। सम्भव है कि मनुष्य ने अपनी उत्पत्ति के विषय में उसी समय से सोचना आरम्भ कर दिया हो। मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में यह एक प्राचीन धारणा है, जो संसार की अनेक जातियों में प्रचलित है, कि भिन्न-भिन्न कुल या वंश

जल, पृथ्वी अथवा आकाश के भिन्न-भिन्न जीवों से उत्पन्न हुए थे। यूरोपीय नामों के अन्त में बियर (Bear), उल्फ (Wolf या Wolfe) आदि जो अनेक वंश-नाम होते हैं उनसे इस धारणा को पुष्टि मिलती है। शायद मिस्र में भी इस प्रकार के पशु-संज्ञक वंश-नाम पाए जाते हैं। भारत में भारद्वाज, गर्ग, कश्यप आदि इसके उदाहरण हैं। विद्वानों का मत है कि 'कश्यप' शब्द का परिमार्जित रूप है। 'भारद्वाज', 'गर्ग', और 'कश्यप' का अर्थ क्रमशः 'लावा', 'बैल' और 'कछुआ' है, और हम जानते हैं कि ये तीनों नाम हिन्दुओं के तीन गोत्र-ऋषियों के भी नाम हैं। इससे भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भ में मनुष्य शायद पशुओं को ही अपने पूर्वज मानता था। इसके साथ ही एक और भी बात है, परन्तु जो बिलकुल निश्चयात्मक नहीं कही जा सकती। वह यह कि हिन्दुओं के माने हुए दस अवतारों में पहले चार मत्स्य, कूर्म, वाराह और नृसिंह हैं, जिनका भाव शायद यह निकलता है कि परमेश्वर ने आरम्भ में अपने को मनुष्य से निम्न श्रेणी के जीवों के रूप में ही प्रकट किया। वाराहरूपी भगवान् का कालिदास ने रघुवंश में 'आदिभवेन पुंसा' कह कर वर्णन किया है।[1] प्रलय के उपरान्त पहला मनुष्य, जिसने पृथ्वी को जल से निकाला, वाराहरूपी था। पहले चार अवतारों के अतिरिक्त जिन अन्य अवतारों का उल्लेख है—अर्थात् वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि—वे ईश्वर के मनुष्य-रूप के द्योतक हैं।

परन्तु अवतारों की कथाएँ ज़रा बाद की हैं और इनसे किसी असन्दिग्ध प्रमाण की प्राप्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त इनमें प्राचीन हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास की प्रधानता है। ये उनकी मनुष्योत्पत्ति सम्बन्धी किसी जिज्ञासा को प्रदर्शित नहीं करतीं। हाँ, यह सम्भव है

---

१. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्त्तवक्त्रावरणं बभूव।।
रघुवंश, १३-८।

कि इन कथाओं में भारतीयों के अति प्राचीन विचारों का कुछ संस्कार मौजूद रह गया हो। प्रोफ़ेसर ब्लूमफ़ील्ड का मत है कि उत्पत्ति सम्बन्धी इस प्रारम्भिक जिज्ञासा का प्राचीन आर्यों के धार्मिक विचारों से शायद कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है।

नृवंश-विद्या के विद्यार्थियों के लिए भारत का पुराना साहित्य एक उपयोगी वस्तु है। यद्यपि उसमें निम्न जीवों से मनुष्य के उत्पन्न होने का कहीं विशेष उल्लेख नहीं है, तथापि वह इस विषय की अन्य अनेक कल्पनाओं से पूर्ण है। वेदों से भी पुराना कोई साहित्य यदि इस समय प्राप्त होता तो सम्भव था कि हम निम्न-जीवों वाले विश्वास का भी उल्लेख पाते। वेदों की कल्पना बाद के मानसिक विकास का फल है। परन्तु यहाँ भी हमको ईश्वर के दर्शन नहीं होते। प्राचीन मनुष्य अब भी गोचर प्रकृति में ही अपने कारण को टटोलता है।

सबसे पहले हम विश्व के माता-पिता, आकाश और पृथ्वी, 'द्यावापृथिवीं' को देखते हैं। आर्य यूरोपीय काल में ही[1] इनका समागम स्वर्ग या आकाश के देवताओं का उत्पत्ति-हेतु समझा जाने लगा था। फिर कभी मानव-सृष्टि की उत्पत्ति के भी उत्तरदायी यही दोनों बनने लगे। आर्य-ईरानी काल में एक और पुरुष था जो प्रथम मनुष्य—यम और मनु—का उत्पादक समझा जाता था। इसका वैदिक नाम 'विवस्वन्त' और आवेस्तिक नाम 'विवण्ह्वन्त' है। वैदिक वर्णनों के अनुसार यह व्यक्ति सूर्य का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अग्नि भी मनुष्यों का प्रथम पूर्वज माना गया है। इस

---

१. विद्वानों ने प्रागैतिहासिक काल के तीन विभाग किए हैं—आर्य-यूरोपीय या Indo-European काल (जब भारतीय आर्य और यूरोप की अनेक वर्तमान जातियों का एक स्थान पर निवास था), आर्य-ईरानी या Indo-Iranian काल (जब आर्य और ईरानी एक साथ रहते थे) और भारतीय-आर्य या Indo-Aryan काल। इनमें पहला सबसे पुराना और अन्तिम सबसे बाद का है।

विश्वास का, मालूम होता है, आग बनाने की रीति से कोई सांकेतिक सम्बन्ध है। प्राचीन काल में लकड़ी के दो टुकड़ों को एक दूसरे से रगड़ कर अग्नि पैदा की जाती थी। टुकड़े 'अरणि' कहलाते थे। यही अरणिद्वय माता पिता थे और अग्नि उनकी पहली सन्तान—साथ ही, शायद, पहली मनुष्य-सन्तान भी। विशेषण 'आयु' मनुष्य और अग्नि, दोनों, के लिए समान रूप से प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त किया गया है। अग्नि और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का यह भाव बाद में भी देखने में आता है।

पुनः वेद, तथा समस्त हिन्दू-परम्परा मनुष्य-जाति के एक अन्य पूर्वज का उल्लेख करती है जिसका नाम 'मनु' या 'मनुष्पिता' है। 'मनु' शब्द और अंग्रेजी के 'मैन' में कोई अन्तर नहीं है और यह संसार की दूसरी अनेक जातियों की भाषाओं में भी, रूपान्तर में, विद्यमान है। मालूम होता है आर्यों के प्रथम मनुष्य और आर्य-यूरोपीय काल के आदम की कल्पना समान रूप से एक ही आधार पर की गई थी। कुछ काल तक आदिम आर्य शायद स्वतः सिद्ध प्रथम मनुष्य की कल्पना से सन्तुष्ट रहे। बाद में मनु के भी एक पिता की कल्पना कर ली गई, जो 'विवस्वन्त' था और जिसकी उत्पत्ति के बारे में सोचना अब लोगों ने छोड़ दिया था।

आर्य-यूरोपीय काल के उपरान्त, अर्थात् आर्य-ईरानी काल में, विवस्वन्त के पुत्र 'यम' का प्रादुर्भाव होता है। यम की पुराण-कथा आर्य और ईरानी धर्मों की एक अति स्पष्ट, असन्दिग्ध और चिर-रक्षित सम्पत्ति है। 'यम' का अर्थ है 'सहजात युगल'। यम संसार की जन-सृष्टि के लिए परम आवश्यक मिथुन का नर अंग है और आदम का रूपान्तर है। यमी 'यम' की 'हौआ' बनती है, यद्यपि अधिक पुराने युग में उसका अस्तित्व देखने में नहीं आता। परन्तु वह यम की प्रेयसी नहीं है। इसके प्रतिकूल वह उसकी स्वाधीन और स्वयंमन्या भगिनी का रूप धारण करती है। हौआ की भाँति यमी भी जनसृष्टि के आव-

श्यक कार्य में प्रथम प्रेरक का भाग ग्रहण करती है।

यम और मनु, दोनों, का आरम्भ में आदि मनुष्य के अतिरिक्त और कोई रूप नहीं है। यम का पिता विवस्वन्त पहले-पहल सम्भवतया सूर्य है, जिसका दिव्य व्यक्तित्व बाद में शायद विस्मृत हो गया है। यह सम्बन्ध-भावना यद्यपि पुरानी है, तथापि स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि यम-यमी का विकास यथार्थतः मनुष्योत्पत्ति के प्रश्न को हल करने के लिए ही हुआ है। सूर्य से मनु के उत्पन्न होने की कल्पना इस प्रयास का दूसरा पहलू है और जैसा कि होना चाहिए, यह कल्पना यम-यमी के मिथुन की कल्पना में मिल जाती है। यम काफ़ी पिछले जमाने में सूर्य का पुत्र बन जाता है और फिर सदा इसी प्रकार रहता है। यम और मनु की कथाओं का आगे चल कर आपस में विचित्र रूप से मिश्रण होने लगता है और उनकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैलने लगती हैं। ऋग्वेद[1] में इनके विषय-प्रसार का जो वर्णन दिया है वह बड़ा मनोरंजक है।

प्रजापति त्वष्ट्र की एक कन्या सरण्यू है, जिसके पाणिग्रहण के लिए वह विश्व की अखिल मर्त्य और अमर्त्य जनता को आमंत्रित करता है। जो वर अनुग्रह का पात्र होता है वह 'विवस्वन्त' नाम का एक मर्त्य है, परन्तु उसका सरण्यू के साथ विवाह-रूप में पाणिग्रहण नहीं होता। इस संयोग से यम और यमी की उत्पत्ति होती है। इस भाँति यम और यमी माता-पिता से भी सम्पन्न हो जाते हैं, यद्यपि अभी तक हम केवल उनके पिता को ही जानते थे। परन्तु इसी बीच में सरण्यू विवस्वन्त से नाराज हो जाती है और भाग जाती है। अपने पलायन में वह कहीं पकड़ी न जाए, इस विचार से वह एक घोड़ी का रूप धारण करती है और देवताओं के पास पहुँचती है, जो उसे छिपा लेते हैं। स्थिति को अधिक सुरक्षित करने के अभिप्राय से देवतागण विवस्वन्त की स्नेहपात्री का पद ग्रहण करने के लिए 'सवर्णा' नाम की एक

१, ऋग्वेद, १०—१७—१ व २।

दूसरी स्त्री की रचना करते हैं। 'सवर्णा' का अर्थ है 'समान रूपवाली' अथवा 'समान स्वभाव वाली'। इसका तात्पर्य यह है कि यह नई स्त्री रूप-आकृति-आदि में सरण्यू के ही समान थी और साथ ही स्वभाव-आदि की दृष्टि से मर्त्य विवस्वन्त के लिए दिव्य सरण्यू की अपेक्षा अधिक उपयुक्त भी थी। सवर्णा और विवस्वन्त के संयोग से मनु का जन्म होता है और इस प्रकार मनु भी माता पिता से युक्त हो जाता है। अन्त में विवस्वन्त को देवताओं की चाल मालूम हो जाती है और वह घोड़े का रूप धारण कर सरण्यू का पीछा करता है और उसे प्राप्त कर लेता है। इस बार इन दोनों से अश्विन-युगल की उत्पत्ति होती है। परन्तु सरण्यू, पहले की भांति, फिर विवस्वन्त को छोड़ भागती है और अबकी बार वह, शायद सदा के लिए, एक स्वतंत्र देवता की कक्षा को प्राप्त कर लेती है।

इन तमाम जटिल ग्रन्थियों के परिणामस्वरूप हमको मानव जाति के दो पूर्वज प्राप्त होते हैं—विवस्वन्त का पहला पुत्र 'यम' और विवस्वन्त का दूसरा पुत्र 'मनु' वे एक प्रकार से हमें ईसाइयों के ऐडम और नोआ की याद दिलाते हैं—विशेष रूप से मनु, जिसकी महाप्रलय सम्बन्धी कथा ईसाइयों की सृष्टि-सम्बन्धी पुस्तक (Book of Genesis) के वृत्तान्त से आश्चर्यजनक मात्रा में मेल खाती है। विवस्वन्त और उसकी द्विगुण सन्तान बहुत काल तक अपने मर्त्य रूप में ही दृष्टिगोचर होती रहती है। उसके बाद लोगों की धार्मिक या लौकिक मनः प्रगति के अनुसार वे प्राचीन काल के महा यशस्वी शासकों या ऋषियों का रूप धारण कर लेती है। हिन्दुओं की धर्मकथाओं में मनु का यज्ञकर्ताओं में आदिम स्थान है। मनु के उत्तरगामी वैदिक काल के याज्ञिक अपनी वेदिका पर हवन करते समय अपने को मनुष्य के गृह में मनुष्य ही की भाँति ('मनुष्यवत्') यज्ञ करते हुए मनु का प्रतिरूप या प्रतिनिधि मानते थे। अवेस्ता के अनुसार विवह्वन्त पहला मर्त्य था जिसने मर्त्य जगत् के लिए 'होम' (सोम) रस निकाला था। उसके बाद उसके पुत्र 'यिम'

(वैदिक 'यम') तथा यिम के वंशज यह कार्य करते रहे। परन्तु यिम बाद में स्वर्णयुग या सतयुग का एक शासक मान लिया गया, जिसके शासन में न बुढ़ापा था न मृत्यु, न गर्मी थी न ठंड, न किसी बात की कमी न बीमारी। बाद के पारसी-काल में यह एक प्राचीन वीर पुरुष हो गया। अवेस्ता में उसे 'यिम क्षेत्र' या 'शासक यिम' कहा गया है। यही शब्द फ़ारसी में 'जमशेद' हो गया। जमशेद फ़ारसी के प्रधान वीर-काव्य 'शाहनामा' का चरित्र-नायक है।

वेदों में यम की कथा आगे चल कर पुनः अपनी गति बदलती है। यम मनुष्य-जाति का पहला शासक था जो मरा और जिसने अपनी जाति के लिए एक स्वर्ग उपलब्ध किया। इस स्वर्ग में आनन्द ही आनन्द था और यहाँ पिछले मृत पुरुषों—विशेषतः प्राचीन समय के अग्रणी धर्माध्यक्षों, अंगिराओं—के समागम-सुख की प्राप्ति होती थी। यम पहला मर्त्य था जो मरा और स्वर्ग को गया[1]।

तथापि यही यम, समय पाकर, नरक का शासक और पापियों का दण्डदाता बन जाता है। मनुष्य के हृदय में मृत्यु का भय इतना प्रबल है। पर कुछ भी हो, इस बात का यह स्पष्ट उदाहरण है कि जातीय पुराण-कथाएँ लौकिक उपचार के हाथों में पड़ कर किस-किस असाधारण प्रगति के आधीन होती हैं और कहाँ तक वे अपने प्रारम्भिक उद्देश्य से भटक जाती हैं। आर्य-ईरानी काल के स्वर्णराज्य का वत्सल अधीश, वैदिक काल के आनन्दमय स्वर्ग का कृपा-परवश मार्गदर्शक और नेता, और महाभारत-काल के नरकगामी पापात्माओं का भयंकर दण्ड-धर—यही उस प्रथम अव्यक्त मनुष्य का इतिहास है जिसके पिता के स्पष्ट रूप से पहले लोग अपरिचित थे और जिसको अयोनिज के गौरव से वंचित होने पर भी चिरकाल तक अयोनिज रहना पड़ा था। उसके

---

१. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेमाय प्रथमो लोकमेतत्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥
—अथर्ववेद, ४–१८–३–१३।

विकास के एक-एक पद का अनुसरण करना और संसार के धर्मेतिहास में उसके यथार्थ स्थान का पता लगाना तुलनात्मक पुरावृत्त का मनोरंजक विषय है।[1]

---

१. सरस्वती, भाग २८, संख्या ४।

१०

गृह्य-काल में विवाह का समय

जिस विस्मृतप्राय काल से संसार में मनुष्य के होने का पता चलता है तभी से यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्यों में विवाह होते थे। संसार का सब से पुराना साहित्य वैदिक संहिताएँ हैं। आर्य लोग, भारत में आने से पहले, मध्य एशिया के सन्निकट, ईरानियों के साथ रहते थे और उससे भी पहले किसी और प्रदेश में जहाँ से चल कर वे एशिया और यूरोप के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बसे और बाद को जर्मन, यूनानी, रोमन आदि जातियों के रूप में अपने प्रतिनिधि छोड़ गए। इन तमाम जातियों के सामाजिक संस्कारों का इतिहास देखने से मालूम होता है कि हिन्दू-विवाह की रस्में अनेक अंशों में उनके विवाह की रस्मों से मिलती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यह आंशिक समानता उसी प्राचीनतम काल से चली आती है जब कि तमाम जातियों के पूर्वज एक ही स्थान में रहते और एक ही प्रकार के रीति-रिवाज को मानते थे। ईरानियों और हिन्दुओं के रिवाजों और साहित्य में इतनी समानता है कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाना सम्भव है कि वे एक-दूसरे के ही अनुवाद हैं। डाक्टर जे० जे० मोदी ने अपनी एक पुस्तक में[1] ईरानियों के रीति-रिवाजों की तुलना करने के लिए कहीं-कहीं अन्य जातियों की रस्मों का वर्णन किया है।

विवाह-प्रथा जितनी पुरानी है उतनी ही उसकी महत्ता भी अधिक है। इसी एक विषय के अध्ययन में अनेक विद्वानों ने अपने तमाम

1. Dr. J. J. Modi : Religious Ceremonies and Customs of the Parsees.

आयु बिता दी और ग्रन्थ-के-ग्रन्थ रच डाले। संसार-भर की विवाह प्रणालियों तथा उनके भिन्न-भिन्न अंगों की उत्पत्ति एवं विकास-आदि के अध्ययन के लिए शायद एक आयु-काल भी थोड़ा है। हिन्दू-विवाह के ही आरम्भ, मध्य और वर्त्तमान समय तक की परिणति पर यदि दृष्टि डाली जाए तो इस बात की सत्यता का कुछ पता चल सकता है। हिन्दू विवाह स्थान-स्थान पर ऐसी जटिल समस्याएँ उपस्थित करता है कि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले जा सकते हैं और उनसे लोगों को भ्रान्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा में विद्वानों में मत-भेद होना भी अनिवार्य है। जिस अति प्राचीन समय के पूरे लेख एवं प्रमाण-आदि का पता नहीं है, जिस काल के कुछ विपर्यस्त और अपर्याप्त ग्रन्थ ही हमारी तमाम साहित्यिक और ऐतिहासिक सम्पत्ति हैं, उसके सम्बन्ध में यदि हम अनिर्णय-सिद्ध अनुमान को छोड़ कर किसी प्रकार की निर्देशात्मक बात का साहस करें तो हमारा सत्य के प्रति विश्वासघात होगा। हमारा कर्तव्य सत्य का पक्षपात रहित अनुसन्धान करना होना चाहिए और तब, सम्भव है, हमारे अनुमान अधिक बहके हुए न हों।

हिन्दू-विवाह के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर इस छोटे से लेख में विचार कर सकना सम्भव नहीं है। एक पहलू पर भी यदि उसके आदि से अन्त तक विचार किया जाए तो हमको समय और स्थान की कमी का सामना करना पड़ेगा। हम इस विवाह के किसी एक अंग को ले सकते हैं और ऋषि-काल के किसी एक विशेष अंश को ही दृष्टिगत रखते हुए उस पर यहाँ विचार कर सकते हैं। हमारा ध्यान गृह्य-समय में वर और वधू की विवाहोपयुक्त आयु के प्रश्न की और ओर आकर्षित होता है।

गृह्यकाल से हमारा अभिप्राय उस समय से है जब हमारे ऋषियों को अपने श्रौत-कर्मों के अतिरिक्त प्रजा के गार्हस्थ जीवन और तत्सम्बन्धी कर्तव्यों को अलग व्यवस्थित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी और एतदर्थ उन्होंने गृह्यसूत्रों की रचना की थी। गृह्यसूत्रों में उन

तमाम संस्कारों और हमारे कर्तव्य-कर्मों की व्यवस्था है जो एक गृहस्थ को अपने जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करने और कराने पड़ते हैं। गृह्य-सूत्रों के निर्माण से पहले गृह्य जीवन शायद इतना संकीर्ण और तरह-तरह के मन्त्र, स्तोत्र तथा गायन आदि गुँथा हुआ नहीं था जितना कि वह बाद में हो गया और शायद, जैसा कि ओल्डेनबर्ग का मत है, गृह्य-सूत्रों से पहले पुराने वैदिक साहित्य में गृह्य-संस्कारों का कहीं स्पष्ट वर्णन भी नहीं है। वास्तव में गृह्यसूत्रों और उनके पूर्ववर्ती श्रौत-सूत्रों का निर्माण-काल इतना बड़ा है कि उसमें कोई भी विषय अपने पूरे विकास को प्राप्त हो सकता था। प्रोफ़ेसर हॉपकिन्स के अनुसार ब्राह्मण-काल ईसा से लगभग ५०० वर्ष पहले समाप्त होता है जिसके बाद ही सूत्र-काल, अर्थात् श्रौत सूत्रों, गृह्यसूत्रों और सूत्रों और धर्मसूत्रों का काल आरम्भ होता है जो लगभग ईसवी सन् के प्रारम्भ तक चलता है।[1] अपनी यह बात उन्होंने अन्यत्र भी दोहराई है।[2] इस बीच में हमारा गृह्य-जीवन किस परिणति को प्राप्त हुआ इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता है कि गृह्य-ग्रन्थों और धर्म-ग्रन्थों के अनुसार जीवन में होने वाले छोटे-से-छोटे परिवर्तन के लिए भी एक उपयुक्त और श्रमसाध्य विधान का पालन करना आवश्यक समझा जाता था।[3]

वैदिक संहिताओं के अवलोकन से पता चलता है कि विवाह का आयुकाल उस ज़माने में शायद कम नहीं था।[4] यद्यपि बाद के साहित्य से मिलान करने पर मालूम होता है कि स्त्रियों के विवाह-काल की सीमा

---

1. Religions ot India.
2 Cambridge History o. India,
3 Marriage in grihyha Times and Now, All'd. Uni. Studies, Vol. II
4 Macdonell and Keith : Vedic Index of Names and Subjects,

लेखकों ने ऋग्वेद और अथर्ववेद के भिन्न-भिन्न स्थलों के हवाले दिये हैं और ऐसे उदाहरणों का ज़िक्र किया है जिनसे प्रकट होता है कि उस समय प्राय: यौवनारूढ़ कुमारियाँ तथा अविवाहित युवक आपस में एक-दूसरे को अनुरञ्जित करने की चेष्टा किया करते थे।

धीरे-धीरे नीचे जाने लगी थी, तथापि गृह्यसूत्रों के समय में वह इतना नीचे नहीं चली गई थी कि आयु की दृष्टि से उस समय में प्रायः किसी तरह के बे-जोड़ विवाह होते रहे हों। स्मृतियुग में अवश्य "अष्टवर्षा भवेद्गौरी" आदि-जैसी उक्तियाँ हमारे पढ़ने में आती हैं ; परन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय क्या था, यह सोचने का यहाँ अवसर नहीं है।

पुरुषों के विवाह जिस आयु में होते थे उसके विषय में हमारा साहित्य बिलकुल स्पष्ट है और उसमें किसी प्रकार के सन्देह या अनिश्चय की गुंजाइश नहीं है। गृह्य-सूत्रों के वर्णित संस्कारों में उपनयन और विवाह दो सब से प्रधान संस्कार हैं। उपनयन द्विजाति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है, परन्तु उपनयन की अनिवार्यता उससे भी अधिक है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार केवल स्नातक ही विवाह का अधिकारी है। उपनयन के बाद उपनीत बालक को अनेक वर्ष गुरु के पास विद्यार्थी अवस्था में व्यतीत करने पड़ते थे। ब्राह्मण का उपनयन कम-से-कम आठ साल की आयु में, क्षत्रिय का ग्यारह साल की आयु में और वैश्य का बारह साल की आयु में होता था, इसके बाद उसे आचार्य के पास रहकर एक, दो या तीन वेदों का अध्ययन करना पड़ता था और प्रत्येक वेद के अध्ययन में बारह वर्ष लगते थे, अध्ययन समाप्त होने पर समावर्तन संस्कार होता था और उस समय विद्यार्थी स्नातक होकर अपने घर लौटता था। इस प्रकार कम-से-कम बीस वर्ष की आयु में ब्राह्मण विवाह का अधिकारी हो सकता था। क्षत्रियों और वैश्यों को क्रमानुसार कम-से-कम तेईस और चौबीस वर्ष लगते थे, समावर्तन संस्कार के बाद विवाह योग्य होने का यह नियम स्मृतियों में भी देखने में आता है, शायद बाद में उस समय इस नियम का अपवाद आरम्भ हुआ होगा जब कि विवाह के अभिप्राय में शृंगार का पुट मिलने लगा था और पुरुष के यौवन और सौन्दर्य का वसन्तकाल सोलह वर्ष की आयु में समझा जाने लगा था। रामचन्द्र सीता स्वयंवर के समय सोलह वर्ष के थे और भवभूति के माधव ने पन्द्रह वर्ष की आयु में

मालती पर आसक्त होकर उसके साथ विवाह किया था।

लड़कियों की विवाह की आयु में जरूर समय-समय पर हेर फेर होता रहा है। यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि वैदिक समय में कौन सा आयु काल स्त्रियों के लिए आदर्श समझा जाता था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि वे प्रायः पूर्ण रूप से संवृद्ध होती थीं...पर गृह्यकाल में उनकी वैवाहिक आयु कुछ-कुछ सीमाबद्ध अवश्य हो गई थी। गृह्यसूत्रों के समय में लड़कियां आपेक्षित दृष्टि से कम उम्र में व्याही जाती थीं, परन्तु फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि विवाह के समय तक वे या तो प्रौढ़ हो चुकती थीं या प्रौढ़ता के सन्निकट होती थीं।

साधारण रूप से नग्निका कन्या विवाह के लिए सबसे उत्तम समझी जाती थी।[1] "नग्निका" उस कन्या को कहते थे जो विवाह के समय तक ऋतुमती न हुई हो।[2] विवाह के बाद वधू को घर पर लाने के उपरान्त चौथी रात को "सम्भव" वर वधू का एकान्त सहवास होता था।[3] इस बात का कठोर नियम था कि पहली तीन रात तक दोनों ब्रह्म-

१. नग्निका तु श्रेष्ठा गोभिल गृ० सू०, ३, ४, ६ ताभ्यामनुज्ञातः भार्यामुपयच्छेत्सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम्, हिरण्यकेशी गृ० सू०, १, ६, १, ९, २।

२. गृह्यकार गोभिल के पुत्र ने नग्निका की परिभाषा देते हुए लिखा है:—
नग्निकां तु वदेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत
ऋतुमती त्वनग्निका तु प्रयच्छेत्त नग्निकाम्।
अमरकोष में भी नग्निका का अर्थ अनागतार्तवा किया गया है।

३. कुछ गृह्यसूत्र तो चौथी रात के सहवास का स्पष्ट रूप से आदेश करते हैं और उसके विषय में केवल तटस्थ हैं न पक्षपाती ही और न विरोधी ही जैसा कि उनके त्रिरात्रि ब्रह्मचर्य के वर्णन से मालूम होता है। यदि चौथी रात के सहवास का वर्णन करने का उनका अभिप्राय होता तो उक्त ब्रह्मचर्य का शासन अप्रासंगिक था। केवल पारस्कर ही ऐसा है जो मासिक ऋतु के बाद के दिनों में सहवास करने की अलग आज्ञा देता है, परन्तु उसने भी ब्रह्मचर्य का तथा सहवास करने के लिए चौथी रात से लेकर एक वर्ष तक की

चर्य से रहे, भूमि पर सोवें, कोई तेज या नमकीन पदार्थ न खाएं आदि।[1] प्रथम दृष्टि में यह बात कुछ परस्पर विरोधी सी मालूम होती है। नग्निका वधू के साथ सहवास प्रकृति विरुद्ध है और हमको यह मानने में जरा संकोच होता है कि ऋषियों ने ऐसे कार्य के लिए अनुमति दी होगी। इसके विपरीत उनकी यह स्पष्ट आज्ञा है कि इस प्रकार का प्रकृति विरुद्ध सहवास न किया जाय। गोभिल गृह्यसूत्र में नग्निका को श्रेष्ठ बतलाया गया है और तीन रोज के ब्रह्मचर्य के ऊपर बहुत जोर दिया गया है, परन्तु गोभिल के ही धर्मशास्त्र में हमें मिलता है कि "अजातव्यञ्जना लोम्नी न तया सह संविशेत्, अयुगूः काकबन्ध्या या जाता तो न विवाहयेत्" ३ १३६, अर्थात् अजातव्यंजना जिसके यौवन के चिह्न प्रकट न हुए हों और अजातलोम्नी जिसके गुप्त स्थानों पर रोमोद्गम न हुआ हो उसके साथ संवेश नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गृह्यसूत्र में भी, स्नातक के कर्तव्यों का वर्णन करते समय गोभिल ने यही बात कही है और खादिर ने उसके वचन की पुनरुक्ति की है। यही आदेश पारस्कर का भी है[2] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अधिकांश अवस्थाओं में विवाह के समय वधू नग्निका नहीं रहती होगी और जहां नग्निका को 'श्रेष्ठ' बतलाया गया है वहां निर्देशकों का ध्यान कन्यावरण के समय पर रहा होगा, यह स्वाभाविक है कि वरण के

वैकल्पिक अवधियों का वर्णन किया है, इसके अतिरिक्त गोभिल के ऊर्ध्वं त्रिरात्रात्सम्भव इत्येके गृ० सू०, २, ५, ७ के एके से प्रतीत होता है कि अधिक- चौथी रात को ही सहवास करने का रिवाज़ था।

१. शाखायन गृ० सू०, १, १७, ५, आश्वलायन गृ० सू०, १, ८, १०१, १, गोभिल गृ० सू०, २, ३, १५; खादिर गृ० सू०, १, ४, ६; जैमिनि गृ० सू०, २, ६; बोधायन गृ० सू०, १७, ६, २१; आपस्तम्ब गृ० सू०, ३, ८, ८; हिरण्य-केशी गृ० सू०, १, ७, १०; कौशिक गृ० सू०, १०, ७६।

२; नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् गोभिल गृ० सू०, ३, ५, ३ और खादिर गृ० सू०, ३, १, ३४; अजातलोम्यों विपुंसीं षंढाञ्च नोपहसेत् पारस्कर गृ० सू०, २, ७, ६।

समय और विवाह के समय के बीच में कुछ अन्तर अवश्य रहता हो, क्योंकि प्राचीन साहित्य में दहेज और जेवर आदि के वर्णनों से प्रकट होता है कि उस समय में भी इनका काफी रिवाज था और विवाह के समय उनकी तैयारी में कुछ समय अवश्य लगता होगा। साधारणतः वरण के मौके पर कन्या के युवती होने में कुछ ही कसर रहती होगी जो वरण और विवाह के बीच में पूरी हो जाती होगी।

विवाह के समय लड़कियों का परिणतावस्था में होना आवश्यक समझा जाता था, इसका एक और भी प्रमाण है, अन्य सूत्र या तो नग्निका कन्या के वरण का आदेश करते हैं या इस विषय में कुछ नहीं करते, परन्तु सब के प्रतिकूल जैमिनि की आज्ञा है कि अनग्निका के साथ विवाह करना चाहिए,[1] उधर हिरण्यकेशी का कथन है कि कन्या नग्निका हो और ब्रह्मचारिणी हो,[2] साथ ही, हम देखते हैं कि इस गृह्यसूत्र कर्ता के अनुसार चतुर्थ रात्रि का वर वधू सहवास भी आवश्यक है,[3] ऐसी अवस्था में यह समझना कठिन है कि नग्निका और ब्रह्मचारिणी शब्दों के साथ-साथ प्रयोग किए जाने का क्या अभियोग है, तब क्या नग्निका और अनग्निका दोनों का एक ही अर्थ है, यह कम आश्चर्य की बात नहीं होगी कि गृह्यसूत्र काल के भीतर ही एक शब्द का दो विरुद्ध अर्थों में प्रयोग होने लगा हो, बाद के व्याख्याकारों ने नग्निका का अर्थ बिलकुल स्पष्ट करके लिख दिया है, परन्तु हिरण्यकेशी के व्याख्याकार मातृदत्त ने नग्निका उसको बतलाया है जो यौवनावस्था में पदार्पण कर रही

---

१. ताभ्यामनुज्ञातो जायां विन्देतानग्निकां समानजातीयामसगोत्रां मातुरसपिण्डाम् जैमिनीय गृ० सू०, २०।२।

२. ताभ्यामनुज्ञातः भार्यामुपयच्छेत्सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम् हिरण्यकेशी गृ० सू०, १ ६। १९। २।

३. हिरण्यकशी ने पहले चतुर्थ रात्रि के सहवास का वर्णन करके उसके बाद ही ऋतु समय की चौथी रात के सहवास का वर्णन किया है १।७।२३-११; १ ७, २४, २, दोनों प्रकार के सहवास के लिए भिन्न-भिन्न मन्त्र दिए गए हैं

हो या हाल ही में कर चुकी हो, जो अपने वस्त्र हटा सकती हो अर्थात् मैथुन के योग्य हो,[1] एक-दूसरे ग्रन्थकार भट्ट गोपीनाथ दीक्षित ने भी अपनी पुस्तक संस्कार रत्नमाला में नग्निका का यही अर्थ दिया है,[2]

इन प्रमाणों से नग्निका और ब्रह्मचारिणी का विरोध तो दूर हो जाता है, नग्निका और अनग्निका के अर्थैक्य की कठिनाई का सन्तोष-प्रद उत्तर नहीं मिलता वास्तव में शब्दों के तोड़-मरोड़ में तरह-तरह के अर्थ निकल सकने की गुंजाइश रहती है और कभी-कभी एक-एक शब्द के बड़े-बड़े अकल्पनीय अर्थ भी कर लिए जाते हैं, यह प्रायः उसी समय होता है जब कि प्रयोजक के अभिप्राय का निश्चय नहीं हो पाता। निरुक्त में एक-एक शब्द की भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति दे कर उसके एक-एक दर्जन अर्थ किए गए हैं, मातृदत्त ने 'नग्नपतिरपि' आदि कह कर और पाणिनि के सूत्र देकर अपना समर्थन किया है, सम्भव है, कुछ इसी प्रकार की खींचातानी हिरण्यकेशी ने भी की हो, व्यवहार की दृष्टि से एक कन्या पहली बार ऋतुमती होने के पिछले रोज़ तक नग्निका कहला सकती थी, इस भांति, उन दिनों में जब कि विवाह के समय वधू नवयुवती होती थी और चतुर्थ रात्रि का सहवास विवाह कर्म का एक अंग समझा जाता था, इन दोनों शब्दों के अर्थ भेद का आधार एक बहुत छोटी सी कालावधि भी हो सकती थी, एक अल्पस्थायी विकार जो कन्यात्व की दो अवस्थाओं का विभाग करता है और फिर भी उनका संयोजक है, तब क्या हम यह समझें कि हमारे ऋषि कभी-कभी अपने प्रयोगों में निरंकुश हो जाते थे और थोड़े से वागुपचय का आश्रय लेकर नग्निका और अनग्निका के भेद को त्याग देते थे, अथवा वे इतने असावधान और असंगत बुद्धि रहते थे कि अपनी

---

१. नग्निकामसन्नार्तवाम्, नग्नपतिरपि परिपठितो वस्त्रविक्षेपणार्थं, ततोऽहेण्वेक, कर्त्तरिच, स्यात्कृतो बहुलं कृति, तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका, मैथुनार्हेत्यर्थः

२. नग्निकां मैथुनार्हाम्, ब्रह्मचारिणीमकृतमैथुनाम्, संस्कार रत्नमाला; पृष्ठ ४०३,

अत्यन्त स्थूल विरोधोक्तियों को भी नहीं देख सकते थे, हमारे विचार से, पुरुष को अपनी अधिकार स्थिति में कुछ निरंकुशता हो सकती है, परन्तु उसमें भी वह इतना सावधान तो रहता ही है कि किसी तरह का प्रमाद दिखा कर वह उपहास्यता को प्राप्त नहीं होना चाहता, नग्निका के अर्थ में परिवर्तन नहीं हुआ है, कोषकार अमरसिंह के समय में भी उसका वही अर्थ समझा जाता था जो गोभिल के पुत्र ने दिया है, यह सम्भव है कि ऊपर के अनुमान के अनुसार हिरण्यकेशी ने अर्थभेद के अल्पकालिक आधार पर ध्यान न देकर और विषय को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखते हुए नग्निका को नव अग्निका के ही अर्थ में लिखा हो, अनग्निका लिखने से लोग बीस वर्ष की कुमारी भी समझ सकते थे और केवल नग्निका लिखने से पांच वर्ष की अबोध बालिका का भी बोध हो सकता था, शायद इसी उभय सम्भव परिस्थिति को दूर करने के लिए नग्निका के साथ ब्रह्मचारिणी लिखने की ज़रूरत पड़ी हो, यही ख्याल कदाचित् मातृदत्त का भी था और इसीलिए उसने नग्निका का अर्थ आसन्नार्तवा किया है, आसन्नार्तवा और मैथुनार्हा में उतना ही भेद है जितना नग्निकात्व और अनग्निकात्व का विभेदक होते हुए भी उनका एक दूसरे से संयोग करने के लिए पर्याप्त है,[1]

---

१. श्रीयुत बी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने अपनी एक पुस्तक में एक पाठान्तर का उल्लेख किया है जो श्रीयुत-राव बहादुर सी० वी० वैद्य ने १६ सितम्बर, सन् १९०६ के एक पत्र में दिया है, इस पाठान्तर के अनुसार सूत्र में नग्निका के स्थान में अनग्निका है, यदि यह पाठ ठीक है तो सब कठिनाई दूर हो जाती है, हम देख चुके हैं कि जैमिनि ने भी अनग्निका के लिए ही आज्ञा दी है,

२. पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववन्हिभिः
भुज्यन्ते मानुषैः पश्चान्नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।

अत्रिसंहिता ५, ५ ।

व्यन्जनेषु च जातेषु सोमो भुंक्ते च कन्यकाम्
पयोधरेपु गन्धर्वो रजस्यग्निः प्रतिष्ठितः ।

अत्रिसंहिता ५, ६.

विवाह संस्कार में एक स्थल पर पारस्कर में उसका नाम समीक्षण है वर बधू से इस प्रकार कहता है "सोम: प्रथमो विविदे, गन्धर्वो विविद उत्तर:तृतीयोग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यज:" अर्थात् पहले सोम ने तुझे प्राप्त किया और उसके बाद गन्धर्व ने, तेरा तीसरा पति अग्नि है और तेरा चौथा पति मनुष्य से उत्पन्न मैं हूँ, बाद के स्मृतिकारों ने इस चतुर्गुण पत्नीत्व की उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार समझने का प्रयत्न किया है जो कन्या को यौवन की ओर ले जाती है, तीसरा पति, अग्नि, रजोदर्शन के आरम्भ में उसका स्वामी होता था और इस समय वह अपने मानव पति के हवाले की जाती थी, वास्तव में इसी समय वरण के समय की नग्निका पत्नी बनती थी और चतुर्थ रात्रि के सहवास के योग्य होती थी।

कुछ गृह्यसूत्र चौथी रात के सहवास के विषय में विशेष रूप से निर्देश नहीं करते और कुछ उसको वैकल्पिक रखते हैं, विकल्प की दशा में छठे दिन, बारहवें दिन और कभी-कभी एक साल बाद भी, सहवास किया जा सकता था, इससे एक और सम्भावना का अवकाश रहता है, और वह यह कि यद्यपि कन्याएं साधारणत: आसन्नयौवना होने पर विवाह में दी जाती थीं तथापि शायद कभी-कभी ऐसी लड़कियों का भी विवाह कर दिया जाता था जिनके तारुण्यावस्था प्राप्त करने में साल छै महीने का समय रहता था। ऐसी दशा में यह वर का कर्तव्य था कि वह सहवास के उचित अवसर की प्रतीक्षा करे।[1] किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में वैक-

---

१. ततो यथार्थम् स्यात्। खादिर गृ० सू०, १ ४ १४ पारस्कर के भाष्यकार हरिहर की यह राय कि वैकल्पिक अवधियां भिन्न-भिन्न मनुष्यों की ब्रह्मचर्य शक्ति का विचार रख के दी गई हैं अधिक हृदयग्राही नहीं मालूम होती, एक नव विवाहित यौवन सम्पन्न दम्पति से एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने की आशा करना अधिक स्वाभाविक नहीं है।

मुख्यत: जब कि गृह्यसूत्र काल में भी, जैसा कि हिरण्यकेशी के ब्रह्मचारिणी शब्द और आपस्तम्ब के दिए हुए निषेधों आपस्तम्ब गृ० सू०, १ ३, १२ से प्रकट है, लड़कियों के बिगड़ने का डर रहता था। इसके अतिरिक्त,

ल्पिक अवधि इसलिए भी रक्खी गई थी कि पति जिस प्रकार का पुत्र उत्पन्न करना चाहे उसी के अनुसार वह उचित अवसर पर सहवास करे।[1]

गृह्य सूत्रों में केवल संस्कारों के सम्बन्ध में ही लिखा है और भिन्न-भिन्न संस्कार कर्मों की विधियां विस्तार के साथ वर्णित की गई हैं। उन कर्मों की संचालक और नियामक मर्यादाओं तथा सीमाओं की अलग विवेचना उनमें कम है। यह विषय धर्मशास्त्रों का है। तथापि, प्रसंगवश जो कुछ इधर उधर का ज़िक्र उनमें आ गया है उससे अनुमान करने में सहायता मिल सकती है। विवाह के समय स्त्री पुरुष की आयु के सम्बन्ध में भी वे कुछ नहीं कहते। पर फिर भी वे हमारी युक्ति और कल्पना को उत्तेजना देते हैं। स्मृतियों में जगह-जगह पर हमारे प्रष्टव्य विषय के सम्बन्ध में जो उक्तियां हैं उन पर विचार करना इस लेख का अधिकार

भट्ट गोपीनाथ दीक्षित के अनुसार, चतुर्थ रात्रि का सहवास आवश्यक समझा जाता था इदमुपगमनमावश्यकं स्त्रीसंस्कारत्वात् संस्कार रत्नमाला, पृष्ठ, ४८४। इस बात की ध्वनि स्वयं हरिहर के शब्दों से भी निकलती है, उसने लिखा है·······चतुर्थीकर्मान्तरं पञ्चम्यादिरात्रावभिगमनम्। चतुर्थीकर्मणः प्रोक्तस्य भापात्वमेव न संवृत्तं विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः। यदि वास्तव में चतुर्थी कर्म विवाह का एक अंग था और चतुर्थ रात्रि का सहवास स्त्री के लिए संस्कार माना जाता था तो ब्रह्मचर्य के प्रति हमारा आदरभाव उसमें बाधा नहीं डाल सकता था। बाधा डालने वाली कोई बात यदि हो सकती थी तो वह केवल नव वधू की मैथुन की अयोग्यता ही हो सकती थी। चतुर्थ रात्रि का सहवास अवश्य एक सुप्रचलित और अति मान्य संस्कार रहा होगा, क्योंकि वह अभी तक उन्मूलित नहीं हो सका है। रिवाज के रूप में यह आजकल भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न नामों से विद्यमान है। युक्त प्रान्त के हिन्दुओं में कोई दिन सुहागरात के लिए रक्खा जाता है और बंगाल के लोग फूल शय्या की रीति का पालन करते हैं।

१. बोधायन गृ० सू०, १, ७, ६, २१ आश्वलायन गृ०सू०, १,८,१०,११ आश्वलायन ने कुछ आचार्यों की सम्मति देते हुए कहा है कि यदि दम्पति एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद सहवास करेंगे तो उनसे एक ऋषि का जन्म होगा।

नहीं है। तब भी, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि स्मृतियों के उन अंशों का, जो वर वधू की आयु के विषय में आदेश करते हैं, हमें गृह्यसूत्रों के तथा अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रमाणों के प्रकाश में अध्ययन करना चाहिए। कितने ही पाश्चात्य लेखक प्राचीन साहित्य के किसी एक अपूर्ण अंग को अंग्रेजी अनुवादों द्वारा पढ़कर, या केवल अपनी पक्षपात भावना के वशीभूत होकर, मनमाना लिख बैठते हैं। उदाहरण के लिए मिस्टर फ्रेजर ने लिखा है कि वैतान पद्धति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पुत्रों का विवाह उनके 'लड़के' बनने से भी पहले (before they were even boys) कर दिया जाता था और कन्याएं अपनी बालिकावस्था में ही अपने पति के घर हांक दी जाती थीं, जहाँ अपने इस जन्म तथा पुराने जन्म के अपराध में शीघ्र ही पुत्रवती न होने के कारण उनको भयानक विपत्ति का सामना करना पड़ता था।[1] परन्तु जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं उससे इसकी बिलकुल विपरीत परिस्थिति की सिद्धि होती है, और जिस समय विवाह का आयु निर्देश अति निम्न सीमा को पहुंचने लगा था उस समय यज्ञीय पद्धति पर से लोगों का ध्यान बहुत कुछ उड़ गया था। हमारे विचार में तो प्रोफ़ेसर हापकिन्स की सम्मति अधिक मान्य है। वह कहते हैं कि वैवाहिक क्रिया के वर्णनों से उस समय में वधू के परिणत वयस्क होने का अनुमान होता है; परन्तु प्राचीन धर्म व्यवस्था में बाल-विवाह का भी पता पाया जाता है।[2] ❀

1. Indian Thought Part and Present पृष्ठ २२८
2. Religions of India, पृष्ठ २७० ।
❀ चाँद, अप्रैल १९२६ ।

११

गृह्यसूत्रों का वैवाहिक विधान

विवाह मनुष्यजाति की एक अति प्राचीन, सम्भवतः सबसे प्राचीन प्रथा है। वेस्टरमार्क की दृष्टि में, 'मनुष्य-समाज के इतिहास में यथासम्भव कभी कोई ऐसी अवस्था नहीं रही है जब कि किसी-न-किसी रूप में विवाह-प्रथा विद्यमान न रही हो। मनुष्य को ऐसा दीखता है, वैवाहिक जीवन किसी वानर-जाति के पूर्वज से प्राप्त हुआ है।'[1]

विवाह एक धार्मिक कर्त्तव्य है

भारत में विवाह-प्रथा अति प्राचीन समय से ही कुछ ऐसी विशेषताओं को लेकर चलती आई है जो अन्यत्र प्रायः देखने को नहीं मिलती। संसार की अन्यान्य जातियों में विवाह का स्वरूप एक सामाजिक बन्धन का स्वरूप है और उसका लक्ष्य सामाजिक उपयोगिता है।[2] भारत में उसके सामाजिक स्वरूप के साथ-साथ उसमें एक धार्मिक और आध्यात्मिक तत्व भी मिला हुआ है जो उससे अलग नहीं किया जा सकता; और विशेषता यह है कि यह धार्मिक तत्व ही विवाह का अधिक महत्वपूर्ण लक्षण माना गया। वास्तव में तो हमारे पूर्वजों का सम्पूर्ण जीवन हो—चाहे वह एकान्त जीवन हो अथवा सामाजिक—एक प्रकार के धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण से ओतप्रोत था, जिसके परिणाम में उनकी सब प्रकार की चर्याओं, प्रथाओं और मान्यताओं में भी उसी वातावरण का पूर्ण प्रभाव होना अति स्वाभाविक था।

---

१. देखिए—Westermarck Origin and Development of Moral Ideas,

२. देखिए—वही।

प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह करना एक अति पवित्र, अतः आवश्यक कर्त्तव्य है। अविवाहित मनुष्य आजकल भी समाज में किञ्चित हेय दृष्टि से देखा जाता है।[१] आज की अपेक्षा प्राचीन समय में पुत्र की वांछा अधिक बलवती थी और इस वांछा को एक जातीय रूप प्राप्त था।[२] सम्भवतः जाति-प्रसार के साथ-साथ संकीर्ण भौगोलिक सीमाओं को विस्तृत करते रहने का निरन्तर संघर्ष इस जातीय कामना का हेतु था। फलतः देवताओं से सदैव पुत्र के लिए विवाह करके पुत्रोत्पादन करना अनिवार्य था जो देवताओं को प्रसन्न रखना चाहता था तथा अपने लिए परलोक में सुख-शान्ति का इच्छुक था। विवाह की अनिवार्यता पुरुष से भी अधिक स्त्री के लिए थी, जैसी कि अब भी है; और जो स्त्री अमुक आयु अवस्था तक कुमारी रहती थी वह समाज एवं धार्मिक विधान, दोनों की घोर जुगुप्सा का पात्र बनती थी। स्त्री-पुरुष के लिए विवाह की अनिवार्यता के सम्बन्ध में पी० वाटल ने लिखा है—

'हिन्दू पुरुष को विवाह करके अपनी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए सन्तानोत्पत्ति करनी ही चाहिए, जिससे कि उसकी आत्मा संसार के निकृष्ट स्थानों में भटकती न फिरे। 'पुत्र' शब्द [का अर्थ ही उससे है जो अपने पिता की आत्मा को 'पूत'-नाम नरक में जाने से बचाता है। एक हिन्दू स्त्री यौवन प्राप्त होने पर यदि अविवाहित रहती है तो

---

१. भारत में स्थान-स्थान पर अनेक ऐसी कहावतें प्रचलित हैं जो इस बात को सिद्ध करती हैं, यथा—'बे घरनी घर भूत का डेरा' अथवा 'जेइ के जोरू तेइ के घर।'

२. स्त्री के लिए विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति था। ऋग्वेद में, तथा उसके बाद के साहित्य में इस बात को बार-बार दोहराहा गया है। सन्तानेच्छा ने, फिर पुत्र की कामना का रूप ग्रहण कर लिया जिससे कि पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया निष्पन्न हो सके और उसका वंश आगे चल सके……।'
—Macdonell and Keith, Vedic Index of Names and Subjects, पृष्ठ ४८६। देखिए पृष्ठ ५३६ भी।

उसका परिवार सामाजिक गर्हणा का भाजन होता है और वह स्वयं अपने पूर्वजों की अधोगति का हेतु बनती है।'[1]

अपनी 'इंडियन विज़डम' नामक पुस्तक में मोनियर विलियम्स ने लिखा है—'मनु के धर्मशास्त्र के अनुसार विवाह मनुष्य का बारहवाँ संस्कार है और प्रत्येक व्यक्ति का एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य है।' यह हम देखते भी हैं कि विवाह-विषयक पूरे कर्मकांड, और विवाह से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक परिवर्तनशील सामयिक और स्थानीय प्रथाओं तक, में एक ऐसा धार्मिक भाव और रंग भरा रहता है जिसके बिना विवाह, विवाह ही नहीं रहता।

विवाह की पाद्धतिकता

अति प्राचीन धुँधले युगों के वैदिक ऋषि प्राकृतिक शक्तियों के रूप में अनुभूयमान विभिन्न देवताओं के भय अथवा प्रेम से प्रेरित होकर उन देवताओं की प्रार्थना में लीन दिखाई देते हैं। उनकी देव-पूजा का रूप प्रार्थनामात्र है। प्रारम्भिक अवस्था के बाद धीरे-धीरे इस पूजा में क्रिया या विधि, पाद्धतिकता, का आगमन होता है। फिर तो, और बाद में, जीवन के प्रत्येक कार्य में ही पद्धति का आगमन हो जाता है और अन्ततः यहाँ तक होता है कि कार्य में पद्धति ही प्रधानता ग्रहण कर लेती है। क्रिया की इस पूजा-पद्धत्ति को हम साधारणतया 'कर्मकांड' के नाम से पुकारते हैं। गृह्य-युग, अर्थात् गृह्यसूत्रों की रचना के युग, में जीवन के उस प्रत्येक कार्य के लिए जिसका कुछ भी महत्व समझा जाता था किसी-न-किसी प्रकार की पद्धति, एक-न-एक प्रकार के कर्मकांड, का विधान था; और यह पद्धति-विधान तत्तत् कार्य के थोड़े या अधिक महत्व के अनुसार सरल अथवा जटिल होता था। विवाह जीवन का अति महत्वपूर्ण कार्य है, इसलिए उसकी पद्धति भी स्वभावतः अति जटिल थी। साथ ही पद्धति के अतिरिक्त और भी बहुत से ऐसे नियम थे जो पद्धति के समान ही जटिल थे और जिनका पालन भी उतना ही

---

१. P. K. Wattal: The Population Problem in India. पृष्ठ ३।

आवश्यक था जितना कि पद्धति का। इस प्रकार की प्रथा, आर० डब्ल्यू० फ्रेज़र के शब्दों में, 'समस्त हिन्दू प्रथाओं में सबसे अधिक पुरानी, पवित्र और अनुल्लेखनीय प्रथा है और उसकी पद्धति हिन्दुओं के तमाम धार्मिक कृत्यों में सबसे अधिक जटिल है······विवाह की प्रथा और पद्धति में परिवर्तन करने का मतलब होगा हिन्दू समाज के समूचे ढाँचे को ही बदल देना तथा एक बिलकुल ही नया सामाजिक वातावरण पैदा कर देना।''[1]

गृह्यसूत्र और उनका विषय

गृह्यसूत्रों में, जैसा उनके नाम से ही विदित होता है, गृह्य-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले उन तमाम कृत्यों और कर्तव्यों का सूत्ररूप में वर्णन है जो कि एक मनुष्य को अपने जन्म से मृत्यु तक करने पड़ते हैं। ये कर्तव्य संस्कारों के रूप में उपस्थित होते हैं, अर्थात् उनको किए बिना मनुष्य संस्कारहीन समझा जाता है और समाज तथा सामाजिक जीवन के योग्य नहीं होता।

पृथक्-पृथक् वैदिक संहिताओं से सम्बन्ध रखने वाले गृह्यसूत्र भी पृथक्-पृथक् हैं। इनमें से जो अभी तक प्राप्त हो सके हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद—शांखायन गृ० सू० और आश्वलायन गृ० सू०।
सामवेद—गोभिल, खादिर और जैमिनीय गृ० सू०।
शुक्ल यजुर्वेद—पारस्कर गृ० सू०।
कृष्ण यजुर्वेद—बोधायन, हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब गृ० सू०।
अथर्ववेद—कौशिक गृ० सू०।

सम्भवतः गृह्यसूत्रों की रचना के पहले गृह्य-जीवन और उसके कर्तव्य इतने जटिल न रहे होंगे जितने कि वे बाद में हो गए। वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान ओल्देनबर्ग का कथन है कि वैदिक साहित्य में गृह्य प्रथाओं का सीधा-सीधा उल्लेख नहीं है, यद्यपि इसमें भी सन्देह

१. R. W. Frazer : Indian Thought Past and Present, पृ० २७१–७२

नहीं कि कोई-कोई प्रथा ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं की समकालिक या उससे भी अधिक पुरानी है।[1] गृह्यसूत्रों के निर्माण का समय, उनके पूर्ववर्ती श्रौतसूत्रों के समय को मिलाकर, इतना अधिक हो जाता है[2] कि उसमें कोई भी चीज़ धीरे-धीरे अपने पूर्ण विकास और परिणति को प्राप्त हो सकती थी।[3] विवाह संस्कार के ही कम-से-कम तीस महत्वपूर्ण अंग थे, और उन अंगों से सम्बन्ध रखने वाली छोटी-छोटी अनेक प्रथाओं की गणना उनसे अलग है।

विवाह के प्रकार

जिन भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाहों को उस समय किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जाता था उनका स्पष्ट उल्लेख हमें केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है। इन विवाहों की संख्या आठ है और उनके नाम हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, गन्धर्व, आसुर, पैशाच और राक्षस। परन्तु इनमें से पहले दो ही विशेष रूप से प्रतिष्ठित और ग्राह्य समझे जाते थे,[4] और आश्व० गृ० स० में दिए हुए ब्राह्म विवाह के

1. Intr. du·tion to the Grihya Sutras, S. B. E., संख्या ३०, प० ६।

२. ब्राह्मण ग्रन्थों का समय, जिसका सम्पर्क सूत्रकाल तथा प्रारम्भिक उपनिषदों का समय से भी मानना चाहिए, हमारे विचार में सन् ईसा पूर्व ५०० के लगभग समाप्त होता है। प्रथम प्रकार की रचनाओं (५०० ई० पू० के बाद की कृतियों को हम "रचना" के नाम से पुकार सकते हैं) का समय ६००-५०० ई० पू० से लगा कर ईसवी सन् के आरम्भ तक समझा जा सकता है।"—Hopkins Re'igions of India, पृष्ठ ७।

३. देखिए वही, पृष्ठ २४५—"यह जान लेना काफी होगा कि गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्म शास्त्रों के अनुसार जीवन की प्रत्येक आवर्तनीय घटना के लिए एक तथोचित पद्धति तथा धार्मिक कृत्य (कर्मकांड) का विधान था।"

४. व्याख्याकार गार्ग्यनारायण के अनुसार पहले चार क्रमानुसार ग्राह्य हैं, शेष पापपूर्ण और अग्राह्य। इनमें से भी केवल पहले दो ब्राह्मणों के लिए वांछनीय हैं।

देखिए—तत्र पूर्वौ ब्राह्मणस्य। इतरयोः प्रतिग्रहाभावात्। आर्त्विज्याभावाच्च। गांधवः क्षत्रियस्य पुराणे दृष्टत्वात्। राक्षसश्च तस्यैव युद्धसंयोगात। आसुरस्तु वैश्यस्य धनसंयोगात्। इतरे त्रयोऽनियताः।

लक्षण[1] से स्पष्ट होता है कि तमाम गृह्यसूत्रों में जो विवाह-सम्बन्धी नियम दिए गए हैं वे ब्राह्म विवाह को लक्ष्य करके ही दिए गए हैं। ये ही नियम कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ दैव, प्राजापत्य और आर्ष विवाहों में भी लागू होते हैं। ऐसा मानने के कोई कारण दिखाई नहीं देते कि आश्वलायन गृह्य सूत्र सब में बाद का है।[2] परन्तु ऐसे कोई कोई कारण हों तब भी इस विषय में पिछले गृह्यसूत्रों के मौन से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि विवाह के ये भिन्न-भिन्न प्रकार गृह्ययुग के अन्त के विकसित रूप हैं। गृह्यसूत्रों से पहले के वैदिक साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाहों का जो उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है उससे यही सिद्ध होता है कि ये विभिन्न प्रकार अति प्राचीन समय में भी प्रचलित थे।[3] बाद के कुछ धर्मशास्त्र भी अलग-अलग प्रकार के विवाहों का उल्लेख करते हैं और कुछ पुराणों के समय में तो गान्धर्व आदि निम्न कोटि के विवाह भी प्रायः प्रचलन में आए हुए थे। परन्तु ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि निम्न कोटि के विवाहों की प्रवृत्ति बराबर घटती जाती थी। कौशिक गृह्यसूत्र में, जो गृह्ययुग के पिछले काल का ग्रन्थ है,[4] वैवाहिक नियमों के वर्णन के बाद केवल तीन प्रकार के विवाहों का ही लेख मिलता है, शेष का नहीं।[5]

---

१. अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यादेष ब्राह्मः।—आश्व० गृ० सू०, १-६-१।

२. मोनियर विलियम्स के अनुसार "आश्वलायन गृह्यसूत्र की रचना सम्भवतः २५०० वर्ष पहले हुई थी।" देखिए Brahmanism and Hinduism, पृष्ठ ३८५।

३. देखिए होपकिन्स का लेख, J. A. O. S., xIII, पृष्ठ ३६१-६२।

४. देखिए, कौशिक सूत्र पर ब्लूमफ़ील्ड की भूमिका, पृष्ठ ३१—"मुझे संतोष होगा यदि मेरे दिये हुए प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया कि जो सूत्र कौशिक का बतलाया जाता है उसका समय पिछले सूत्र युग का समय है।"

५. विवाह का जो वर्णन इसमें दिया गया है वह दूसरे गृह्य सूत्रों के वर्णन से प्रायः मिलता है। उस वर्णन के अन्त में हम पढ़ते हैं—एष सौर्यो विवाहः। ब्रह्मापरमिति ब्राह्म्यः। आवृताः प्राजापत्याः प्राजापत्याः (१०,

आसुर विवाह हमेशा ही अति निकृष्ट समझा जाता रहा,[1] यद्यपि पद्धति उसमें भी सामान्य प्रकार की ही रहती होगी। इसमें सन्देह है कि गान्धर्व, पैशाच और राक्षस विवाहों की कोई भी सम्माननीय पद्धति रही होगी—कम-से-कम वधू के माता-पिता के घर में तो वह हो ही नहीं सकती थी। आजकल कुछ अशिक्षित तथा पहाड़ी जातियों में, जहाँ बलात् अपहरण (राक्षस विवाह) के कुछ चिह्न पाए जाते हैं, किसी प्रकार की पद्धति का भी थोड़ा-बहुत पालन होता है, यद्यपि मातृ-गोत्रीय (Matriarchal) गारो जाति में वर का भी अपहरण होता है। बड़ौदा और काश्मीर के राजपूतों में वर अपनी तलवार को प्रतिनिधि-स्वरूप बनाकर विवाह में भेजता है और तिन्नेवली के जमींदार अपनी हाथ की यष्टि या छड़ी भेजते हैं।[2] राजपूताना में प्राय: सब जातियों में वधू-गृह के द्वार पर वर के द्वारा तोरण के तोड़े जाने की प्रथा है। अभिनय के ये भिन्न-भिन्न स्वरूप अब स्वयं विवाह-प्रथा के ही अंग बन गए हैं।

विवाहेतर सम्बन्ध

विवाह के प्रसंग में यदि उन सम्बन्धों की भी गणना की जा सकती हो जो वास्तविक विवाह तो नहीं होते परन्तु जिनमें स्त्री-पुरुष के बीच

---

१. मैक्डानेल और कीथ ने अपने Vedic Index of Names and Subjects, पृष्ठ ४८२, में ऋग्वेद में आए हुए 'विजामातृ' शब्द का उल्लेख किया है। पिशेल के कथानुसार 'विजामातृ' का अर्थ है ऐसा जामाता जिसे, अन्यथा सर्वांशत: योग्य और उपयुक्त न होने के कारण, अपनी वधू को बड़ा मूल्य देकर खरीदना पड़ता था। यह 'विजामातृ' वस्तुतः ऋग्वेद में ही उल्लिखित 'अशीरो जामाता (ऋग्वेद ८–२–२०)'—"ignoble son-in-law"—था। बोधायन ने, दूसरों की भी सम्मति देते हुए, अपने स्मृतिशास्त्र में लिखा है कि खरीदी हुई स्त्री पत्नी नहीं होती और यह यज्ञादिक में अपने पुरुष के साथ नहीं बैठ सकती। कश्यप के अनुसार, ऐसी स्त्री दासी है।

(१–२–२१–२)'

२, Census of India, 1911, Vol I, पृष्ठ २४७ और २६१।

पति-पत्नी का-सा आचरण होता है—यथा विधवा-विवाह, नियोग, बहुपत्नीकत्व आदि—तो यहाँ उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में इस प्रकार के सम्बन्धों के उल्लेख पाए जाते हैं।[1] परन्तु गृह्यसूत्रों की रचना केवल संस्कारों के ही विषय को लेकर की गई है; अतः उनमें इस तरह के विवाहकल्प अवैवाहिक सम्बन्धों का कोई जिक्र नहीं है। तथापि इस प्रकार के निर्देशों जैसे 'कुमायाः पाणिङ्गृह्णीयात्' (पार० १-४-५), 'नग्निका[2] तु श्रेष्ठा' (गो० ३-४-६), 'पिण्डानभिमृत्य कुमारीं ब्रूयात्' (आप० १-५-५), तथा आपस्तम्ब द्वारा दी गई वरणयोग्य कन्याओं की लम्बी सूची से यह अनुमान किया जा सकता है कि अवैध प्रकार के कुछ वैवाहिक सम्बन्ध समाज में थोड़े-बहुत अवश्य दृष्टिगोचर होते रहे होंगे। कन्या के वरण में इस बात की बड़ी सावधानी रक्खी जाती थी कि किसी हीनचरित्रा या प्राग्विवाहिता कन्या से विवाह न हो जाए। इससे विधवा-विवाह के प्रश्न का तो स्वयं ही निराकरण हो जाता है और मि० गेट का यह कहना बिलकुल सही है कि 'विवाह की धार्मिकता का सहज निष्कर्ष यह है कि विधवा को दूसरा पति वरण करने का अधिकार नहीं है।'[3] आपस्तम्ब तो ऐसी कन्या तक का निषेध करता है जो 'दत्ता' हो, अर्थात् जिसके विवाह की किसी दूसरे के साथ बातचीत तय हो हो। आर्यसमाजियों, ब्रह्मसमाजियों तथा कुछ ऐसे लोगों को छोड़कर,

---

1. Vedic Index of Names and Subjects. पृष्ठ ४७७–७८।

२. गृह्य-संग्रह (२–१७–१८) के अनुसार 'नग्निका' कन्या उसे कहते हैं जिसका मासिक रजोधर्म प्रारम्भ नहीं हुआ है और जिसके कुच विकसित नहीं हैं। देखिए—Oldenberg : S B. E. Vol. XXX पृष्ठ ८२, फुटनोट ६।

३. Census of India, 1911, Vol. I. पृष्ठ २४६।

४. सुप्तां रुदन्तीं निष्क्रान्तां वरणे परिवर्जयेत्। दत्तां, गुप्तां, द्योतामृषभां, शरभां, विनतां, विकटां मुण्डां मण्डूषिकां, माङ्गारिकां, रातां, पालीं, मित्रां, स्वनुजां, वर्षकारीं च वर्जयेत्।—आप० १-३-११ १२।

जो पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित हैं, विधवा-विवाह वर्त्तमान समय में भी विशेष अनुमोदन की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कुछ निम्न-जातियों में अवश्य विधवा-विवाह की प्रथा विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है, जो प्राचीन समय की नियोग-प्रथा का परिणाम मालूम होती है। मि० गेट कुछ ऐसी जातियों का, जिनमें विधवा-विवाह प्रचलित है, इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"......बंगाल में केवल अति निम्न जातियाँ ही विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति देती हैं; परन्तु बहुत से स्थानों में उसका निषेध इतना व्यापक नहीं है। पंजाब में यह निषेध (अर्थात् पुनर्विवाह का निषेध) केवल द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को ही लागू होता है। विधवा-विवाह उड़ीसा में बहुत प्रचलित है। बड़ौदा में, बतलाया जाता है, ब्राह्मणों की कुछ निम्न श्रेणियाँ भी इसकी अनुमति दे देती हैं तथा पंजाब की पहाड़ियों में और मारवाड़ में कभी-कभी राजपूत भी विधवा-विवाह कर लेते हैं। भारतवर्ष के अनेक स्थानों में, जहाँ विधवा-विवाह अनुमोदित है, साधारण नियम यह है कि विधवा का देवर, यदि वह चाहे तो, विधवा को पत्नीरूप में ग्रहण कर सकता है और वह उसकी अनुमति के बिना किसी दूसरे से विवाह नहीं कर सकती। कभी-कभी तो पुनर्विवाह करने से पहले विधवा भौजाई को अपने देवर से सम्बन्ध-विच्छेद का प्रमाणपत्र प्राप्त करना आवश्यक होता है। मृत व्यक्ति के बड़े भाई के साथ विवाह करना अधिकतर निषिद्ध है, यद्यपि पंजाब के कनैतों, मध्य प्रान्त के बनजारों तथा मद्रास के गंडों और कोप्पिल वेलमों में ऐसा भी होता है, मद्रास प्रान्त के ही मुदूवरों तथा उदयों में दोनों ही प्रकार के भाइयों से पुनर्विवाह नहीं हो सकता। उनमें मृत व्यक्ति का मौसेरा भाई विधवा को ग्रहण करने का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी समझा जाता है......।"[1]

नियोग की प्रथा का आजकल तो कोई भी अनुमोदन नहीं करता

1. Census of India, 1911, Vol. I, पृष्ठ २४६।

और प्राचीन समय में भी, जब कि इसका प्रचार रहा होगा, यह अच्छी दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। कम-से-कम उसे पुरुष या स्त्री के कर्तव्य का रूप तो प्राप्त नहीं था—सिवा ऐसी परिस्थिति के जिसमें वंश क़ायम रखने के लिए ही वह अनिवार्य न हो जाती हो। गृह्यसूत्रों में गर्भाधान की विवेचना में इसका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] आवश्यलायन गृह्यसूत्र में अवश्य अन्त्येष्टिक्रिया के प्रसंग में मृत पति के उत्तर की ओर उसकी पत्नी के लेटने तथा लेटने के बाद पति के प्रतिनिधि-स्वरूप—'पतिस्थानीयो'—देवर के द्वारा पत्नी के उठाए जाने का निर्देश है।

बहु विवाह

पुरुष के द्वारा बहु-विवाह किए जाने के विषय में गृह्यसूत्रकार अनुमति देते हैं, परन्तु कुछ शर्तों के साथ एक पुरुष अपने से उच्च वर्ण को छोड़ कर प्रत्येक वर्ण में से एक-एक पत्नी ग्रहण कर सकता था। इस प्रकार पारस्कर ब्राह्मण को तीन पत्नियों तक के तथा क्षत्रिय को दो और वैश्य को एक पत्नी के, ग्रहण की अनुमति देता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही एक-एक शूद्रा पत्नी भी रख सकते थे; परन्तु शूद्रा के साथ विवाह में मंत्रोच्चार नहीं किया जा सकता था।[1] दूसरे गृह्यसूत्र इस विषय में अधिक स्पष्ट नहीं हैं।[2] परन्तु गृह्यसूत्रों के पहले और पीछे

---

१. धर्मसूत्रकार इसका उल्लेख करते हैं। परन्तु उनके वर्णनों से भी यह विदित होता है कि स्त्रियों को नियोग-वरण के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। बोधायन-धर्मशास्त्र के अनुसार विधवा के लिए पति की मृत्यु के बाद एक वर्ष तक मधु, मांस, लवण आदि का प्रयोग वर्जित था तथा उसे भूमि पर सोना पड़ता था। उसके बाद केवल निःसंतान होने की दशा में अपने 'बड़ों' की अनुमति प्राप्त कर वह अपने देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति कर सकती थी।

२. उत्तरतः पत्नीम्। धनुश्च क्षत्रियाय। तामुत्थापयेद्देवरो पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्वऽनार्यभिजीवलोकम्—आश्व० गृ० सू०, ४, २, १६-१८। यहाँ 'पतिस्थानीय' शब्द महत्वपूर्ण है और इसके कारण अर्थ समझने में कुछ उलझन पैदा होती है। यदि इस शब्द का प्रयोग विधवा के भावी

के साहित्य द्वारा पुरुषों में बहु विवाह के प्रचरित होने की पुष्टि होती है। साधारणतः समृद्ध-सम्पन्न लोग अथवा राजवंशों के लोग ही बहु-ववाह करते रहे होंगे, ऐसा उक्त साहित्य से अनुमान किया जा सकता है। '......राजा की चार पत्नियों का तो निश्चित उल्लेख मिलता ही है, जिनके नाम होते थे—महिषी, परिवृक्ती, ववाता और पालागली।'[3] तथापि ऐसा पता चलता है कि बहु-विवाह आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था और धीरे-धीर—त्सिमर (Zimmer) के अनुसार तो ऋग्वेद के समय में ही—बहुत कम हो चला था, तथा प्रथम विवाहिता पत्नी ही सही अर्थों में पत्नी समझी जाती थी। इस मत की पुष्टि देलब्रुक (Delbruck) के इस सुझाव से भी होती है कि यज्ञादिक कर्म के प्रसंग में 'पत्नी' शब्द का प्रयोग एक वचन में ही पाया जाता है।

जीवन-निर्वाह के लक्ष्य से किया गया है तो इसमें 'पति' का अर्थ केवल आंशिक है और वह दूसरे उल्लिखित व्यक्तियों को भी लागू होता है। परन्तु इस प्रकार अर्थ लगाने में यह बाधा उपस्थित होती है कि अन्तेवासी और जरद्दास की अपेक्षा विधवा के श्वसुर, ज्येष्ठ, अथवा पुत्र पर उसके जीवन निर्वाह का उत्तरदायित्व अधिक था; उनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया। इसके साथ ही यह भी सम्भव हो सकता था कि देवर निरा बालक ही हो अथवा अन्तेवासी और जरद्दास स्वयं उस परिवार के अश्रित हों।

इसके विपरीत यदि 'पतिस्थानीय' में 'पति' का अर्थ पूर्णांश में ग्रहण किया जाए तो वह केवल देवर को ही लागू होगा, शेष दो को नहीं। अन्तेवासी के सम्बन्ध में जो पवित्रता है उसके कारण उसके साथ नियोग सम्भव नहीं हो सकता था, और जरद्दास तो अपने वार्धक्य के हेतु से भी नियोग-सम्बन्ध के लिए अनुपयुक्त था। परन्तु ये दोनों ही स्त्री को शायद छू अवश्य सकते थे, यद्यपि सूत्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि उत्थापन (विधवा को उठाने के लिए हाथ से छूना या पकड़ना) आवश्यक था अथवा केवल मौखिक निवेदन ही पर्याप्त था। यह भी सम्भव है कि इन दोनों की आवश्यकता तभी पड़ती हो जब कि देवर विद्यमान न हो या जब कि स्त्री सन्तानवती हो और, इसलिए, नियोग-सम्बन्ध का प्रश्न ही न उठता हो। फिर भी यह शंका तो बनी रहती है कि ऐसी दशा में भी देवर या जरद्दास के स्थान में, अथवा इनके साथ-ही-साथ, स्त्री के पुत्र अथवा श्वसुर का उल्लेख क्यों नहीं किया

एक दूसरी परिस्थिति जिसमें बहुविवाह का होना सम्भव था तब पैदा हो सकती थी जबकि प्रथम पत्नी से कोई सन्तान ही न हो। गृह्य-सूत्रकार इस परिस्थिति के विषय में कुछ नहीं कहते हैं, परन्तु पुत्रोत्पादन के धार्मिक कर्तव्य के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था आजकल भी कोई व्यक्ति प्रथम पत्नी की किसी न किसी प्रकार की अनुपयुक्तता के कारण दूसरा-तीसरा विवाह कर लेते हैं। गृह्यसूत्रों से इस बात का भी कुछ अनुमान नहीं लगता कि उक्त परिस्थिति में दूसरी पत्नी पुरुष की ही जाति की होनी चाहिए थी अथवा वह किसी दूसरी भी जाति की हो सकती थी।

वर्तमान समय और शिक्षित वर्गों में बहु-विवाह का प्रचलन नहीं जैसा है। हाँ, कहीं-कहीं अवश्य, यथा मद्रास की कुन्नीवान और कैकुलन जातियों में, बहु-विवाह-सम्बन्धी प्रथाएँ अब भी देखी जाती हैं। साथ ही, कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिसमें बहु विवाह-प्रथा किसी अंश में आवश्यक-सी हो जाती है जब कि एक पुरुष को अपने बड़े भाई की विधवा के साथ विवाह करना पड़ता है। गारो जाति में तो कभी-कभी विधवा सास के साथ भी विवाह कर लिया जाता है। नामपुत्री ब्राह्मणों में भी बहु-विवाह-प्रथा स्वाभाविक हो जाती है क्योंकि उनमें पिता के केवल बड़े पुत्र को ही विवाह करने का अधिकार होता है। इस दशा में बड़े पुत्र का बहुपत्नीक होना स्वाभाविक है अन्यथा जाति की असंख्य लड़कियाँ अविवाहित ही रह जाएँ।[1]

गया। परन्तु इतना तो माना ही जा सकता है कि स्त्री के सन्तानहीना होने की दशा में ही देवर पतिस्थानीय होता होगा, क्योंकि इसकी पुष्टि पहले के और बाद के साहित्य से भी होती है। Vedic Index of Names and Subjects, के पृष्ठ ४७७ पर उसके लेखकों ने लिखा है—'विशेष सम्भावना यही है कि स्त्री के पुत्रवती होने पर ही नियोग प्रथा का पालन किया जाता था। इस प्रथा को पुनर्विवाह कहना कठिन है क्योंकि, जहाँ तक दिखाई देता है, छोटा भाई (यानी विधवा का देवर) स्वयं भी विवाहित रहता था।'

1. Census of India, 1911, Vol. I, पृष्ठ २४६।

पूर्वानुराग

ऋग्वेदिक् युग में प्राग्विवाहिक अनुराग [अथवा स्त्री-प्रसादन (Courtship) प्रायः देखने को मिलता है और कन्याओं के माता-पिता प्रायः इस बात के लिए उत्सुक पाए जाते हैं कि मनोनीत युवकों के साथ उनकी कन्याओं का परिचय अनुराग में परिणत और फलीभूत हो। इस प्रकार के परिचय साधारणतः किसी उत्सव आदि के अवसर पर बनने दिए जाते थे और उनकी कुछ परिणति होने के बाद लड़की के पिता या किसी दूसरे अविभावक से विवाह के लिए अनुमति माँगी जाती थी।[1] परन्तु धीरे-धीरे शायद पूर्वानुराग की मान्यता भी कम होती जा रही होगी। गृह्यसूत्रों में तो इसका कोई भी उल्लेख नहीं है। केवल आपस्तम्ब में वरण के अयोग्य कन्याओं के वर्णन के बाद हम इतना सा पढ़ते हैं—"यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके।"[2] परन्तु 'मनोनिबन्ध' से प्रामाणिक रूप में पूर्वानुराग-द्वारा वरण-प्रथा की सिद्धि नहीं होती। अथवा, यह बात भी हो सकती है कि साधारणतया तो वरण में सामान्य नियमों का ही पालन होता था परन्तु कुछ असाधारण और अपवादरूप परिस्थितियों में, जब कि पूर्वानुराग हो चुका हो, पूर्वानुराग को ही निर्णायक मान लिया जाता था।

1. Adolf Kaegi · The Rigveda, पृष्ठ १५।

२. आप० गृ० सू० १, ३, २१। सूत्र की टीका करते हुए टीकाकार सुदर्शनाचार्य ने लिखा है—अत्र मनश्चक्षुषोर्निबन्ध एवं आदरणे कारणंनतु ज्योतिषादिना ज्ञाता गुणाः। तथा तदभाव एव परिवर्जने कारणं न तु स्वापादयो दोषा इति। उभयोरपि मतयोर्दत्तादीनां निषेधमाद्रियेतैव 'सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां' (आप० ध० सू० २, १३, १), 'असमानार्ष-गोत्रजां पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वम्' इत्यादिव चनजातात्। इसका अर्थ यह है कि 'सुप्ता' 'दत्ता' आदि से सम्बन्ध रखनेवाले निषेधों (देखिए आप० गृ० सू० १, ३, ११, १२) के सामने मन और चक्षु के निबन्ध पर ध्यान नहीं दिया जाता था तथा 'इतरत्' का अभिप्राय ऐसे गौण प्रकार के निबन्धों से था जैसे 'सर्वाश्च रेफलकारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत्' (आप० गृ० सू० १, ३, १४)।

हिन्दू जीवन के विशेष रूप से नीतिपरायण और धार्मिक तथा अर्द्ध-धार्मिक दृष्टिकोणों के कारण यहाँ प्रागनुराग की रीति अधिक पल्लवित और फलीभूत नहीं हो सकती थी। विवाह-सम्बन्धी असंख्य प्रतिबन्धों तथा वरणीय कन्याओं के क्षेत्र के अधिकाधिक संकुचित होते जाने के कारण प्राग्विवाहिक प्रेम अथवा मैत्री के अनुकूल किसी वातावरण का बनना यहाँ सम्भव न था। वास्तव में सच्ची वैवाहिक मैत्री की कल्पना और सम्भावना हिन्दू जीवन में विवाह के 'सप्तपदी'-जैसे महत्वपूर्ण अंगों से पहले नहीं प्रतिष्ठित होती जब कि वर वधू से कहता था—'सखायस्सप्तपदा अभूम सख्यं ते गमेयं सख्यास्ते मा योषं सख्यान्मे मा योष्ठाः।'[1]

वर्तमान हिन्दू समाज भी पाश्चात्य ढँग की अनुराग-रीति का अनुमोदन नहीं करता, जिसके अनुसार स्वतन्त्र प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर युवक और युवतियाँ अपने-अपने जीवन-साथियों का चुनाव कर लेते हैं। परन्तु भारत की कुछ मूल और असभ्य जातियों में लड़के-लड़कियों को उनके माता-पिता से अलग और दूर सुलाने का रिवाज है। लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शयनागार नियत होते हैं और लड़कियाँ प्रायः चुपचाप अपने शयनागार से लड़कों में पहुंच जाती हैं। इसमें यदि गर्भाधान हो जाता है तो गर्भाधान करने वाले युवक से आशा की जाती है कि वह लड़की को पत्नी-रूप में स्वीकार कर ले। कोई गूजर लड़की यदि किसी दूसरी जाति के लड़के से 'सम्बन्ध' कर लेती है तो वह जाति-बहिर्गत कर दी जाती है, परन्तु यदि उसका प्रेमी गूजर होता है तो उसके पिता-द्वारा प्रीति-भोज दिए जाने पर उसका प्रमाद क्षमा कर दिया जाता है।[2]

वरण-पद्धति और कन्या के वरणीय गुण।

गृह्य काल में सबसे पहले 'वरों' अथवा 'प्रस्तावकों' (wooers) को

१. बोधा० गृ० सू० १, १, २८; हि० गृ० सू० १, २१, २।
२. Census of India, 1911, Vol. I, पृष्ठ २४३।

वधू के यहाँ भेजा जाता था, जो जाकर विवाह की बातचीत पक्की करते थे। प्रस्तावकों को भेजने की प्रथा शायद व्यापक रूप से प्रचलित नहीं रही होगी। कोई-कोई गृह्यसूत्र प्रस्तावकों और उनके कार्य का कोई भी उल्लेख नहीं करते। इसके अतिरिक्त कभी-कभी यह भी होता होगा कि वर ने ही वधू को पहले देख कर उसके वरणीय गुणों के आधार पर विवाह के विषय में निर्णय कर लिया हो। यह सम्भवतया उस समय होता होगा जब कि कन्या के विशेष लक्षणों का ज्ञान या अनुमान करने के लिए उसे अनेक मृत्पिण्ड देकर उनमें से एक को ले लेने के लिए कहा जाता था। कन्या एक मृत्पिण्ड को चुन लेती थी और उसी के आधार पर निर्णय कर लिया जाता था।' परन्तु यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं कि इन मृत्पिण्डों को कौन लड़की के सामने रखता था। वर के स्थान में इस

देखिए, ...युग्मान् ब्राह्मणान् वरान् प्रहिणोति।' परन्तु यदि (दक्षिणाभिः सह दत्तास्यान्नतत्र वरान् प्रहिणुयात्।' (बोधा० गृ० सू० १, १, १३, १६।)

युवं भगमिति संभलं सानुचारं प्रहिणोति। ब्रह्मस्यात इति ब्रह्मणम्। तद्ववृताच्छकमानो निशि कुमारीकुलाद्वयलीकान्यादीप्य। (का० गृ० सू० १०, ७५, ८-१०।) इसके ऊपर 'दशकर्माणि ब्रह्मवेदोक्तानि' ग्रन्थ की टीका है—'अर्द्धर्चेन संपुटमभि मंत्र्य सानुचरं वरं प्रतिप्रेषयति...अर्द्धर्चेन ब्राह्मणं प्रेषयति कुमारीसमीपे वरस्य गुणान् कथयति।'

सुहृदः समवेतान्मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात् (आप० गृ० सू० २, ४, १) परन्तु इस पर टीकाकार का कथन है—'एतच्च वरप्रेषणाद्यसुरार्षयोर्न, नान्येषु अर्थालोपात्।' किसी भी गृह्यसूत्र में इस प्रकार का कोई भेद नहीं बतलाया गया है। यदि 'वरों' या प्रस्तावकों' को भेजने के कर्म को कोई मान्यता प्राप्त थी तो वह विवाह के सभी मान्य प्रकारों के लिए भी रही होगी। सूत्रों में कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे समझा जाए कि प्रस्तावकों को भेजने के लिए 'अर्थालोप' का होना आवश्यक था। कन्या के लिए किसी प्रकार के मूल्य के दिए जाने को ही हम यहाँ 'अर्थ' शब्द से ग्रहीत करते हैं। आर्ष विवाह में वर अपने भावी श्वशुर को एक गाय और एक बैल भेंट करता था।

काम का किसी दूसरे के द्वारा, वर के ही मित्रों अथवा प्रस्तावकों द्वारा, किया जाना भी सम्भव था।

लड़की को पसन्द करने में बहुत ही अधिक सावधानी रक्खी जाती थी। जिन लक्षणों की एक वधू में वाञ्छनीयता समझी जाने लगी थी वे संख्या में बढ़ते-बढ़ते इतने दूरन्वेषणीय हो गए थे कि उनमें से बहुतों का निश्चय करने के लिए काल्पनिक और अन्धविश्वास-जैसे-दीखने वाले उपायों तक का सहारा लिया जाता था। ऐसा एक उपाय था भिन्न-भिन्न स्थानों से लाई हुई मिट्टी के कतिपय, सम्भवतः आठ, पिण्डों अथवा नाज के कुछ दानों को भावी वधू के सामने रखना, जिनमें से कोई एक पिण्ड अथवा दाना उसे उठा लेना होता था। किसी विशेष स्थान से लाई हुई मिट्टी का पिण्ड कन्या के किसी विशेष प्रकार के लक्षणों का प्रतीक मान लिया जाता था और अमुक लक्षणों के सूचक पिण्ड का कन्या द्वारा चुनाव के गुणों का परिलक्षक बन कर इस बात का निर्णय कराता था कि कन्या वधू रूप में स्वीकार योग्य है अथवा नहीं।

कन्या में जिन वाञ्छनीय गुणों की अपेक्षा रहती थी वे कभी-कभी तो बड़े कृत्रिम होते थे। उदाहरणार्थ, अमुक प्रकार के नामों वाली कन्या ग्राह्य नहीं समझी जाती थी।[१] सामान्य लक्षणों में यह देखा जाता था कि लड़की के अंग सुडौल हों, बाल चिकने हों जिनमें दाहिनी ओर गर्दन के पास दो आवर्त्त पड़ते हों=ऐसी कन्या से छै पुत्रों का जन्म होता था[२]—

१. देखिए—'नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाश्च गर्हिताः। सर्वाश्चरेफल-कारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत्।' (आप० गृ० सू० १, ३, १२, १३)। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उस जमाने में लोग अपनी कन्याओं के नाम नदीनक्षत्रादि के नामों पर न रखने की विशेष सावधानी रखते होंगे। इसी भाँति जिन शब्दों के आरम्भ और अन्त में र या ल अक्षर आते हों उनके द्वारा भी नामकरण न किया जाता होगा। बाद के युगों में तो इस प्रकार की सावधानता अवश्य कम होगई थी जब कि यमुना या सरस्वती, कमला या ललिता जैसे नाम रक्खे जाने लगे, देखने को तो, उर्मिला या रोहिणी जैसे नाम पहले के युगों में भी मिलते हैं।

२. शां०गृ० सू० १, ५, ६-१०।

वह श्रेष्ठ कुल की हो, बुद्धिमती हो, सुन्दर हो, सच्चरित्रा हो तथा रोगों से मुक्त हो।[1] पुनः, वह ऐसी न हो जो दूसरे को दी जा चुकी हो, जिसे सम्बन्धियों द्वारा छिपा कर रक्खा गया हो, जिसकी दृष्टि वक्र हो अथवा जो टेढ़ी हो, जो कुबड़ी हो, जिसकी कान्ति हीन हो गई हो, आदि-आदि।[2] इसी प्रकार कभी-कभी वर के लक्षणों की भी देख-भाल होती थी परन्तु इस देख-भाल में विशेष कठोरता से काम नहीं लिया जाता था। केवल आश्वलायन ने वर के सम्बन्ध में ज़रा सा कहा है[3]—वह भी चलते-चलाते ढँग से।

इनके अतिरिक्त कन्या के कुल परिवार से सम्बन्ध रखने वाले भी बहुत से प्रतिबन्ध थे। सबसे पहले तो कन्या के पितृकुल और मातृकुल की जाँच परमावश्यक थी।[4] आश्वलायन के टीकाकार गर्ग्यनारायण के अनुसार यह आवश्यक था कि कन्या के माता-पिता 'महा-पातकों' से तथा अपस्मार-जैसे रोगों से मुक्त हों। गर्ग्यनारायण ने कहीं का उद्धरण देते हुए बतलाया है कि कन्या के पितृकुल के दस-दस पूर्वज अपने शास्त्राध्ययन और ज्ञान-गरिमा तथा तपश्चर्यादि-सत्कर्मों के लिए प्रसिद्ध महात्मा एवं

---

१. आश्व० गृ० सू० १, ५, ३।

२. देखिए—'सुप्तां रुदन्तीं निष्क्रान्तां वरणे परिवर्जयेत्। दत्तां, गुप्तां द्योतामृषभां शरभां विनतां विकटां मुण्डां मण्डूषिकां सांकारिकां रातां पालीं मित्रां स्वनुजां वर्षकारीं च वर्जयेत् (आप० गृ० सू० १, ३, ११, १२)।' ओल्डेनबर्ग को इस उद्धरण का अनुवाद करने में कठिनता हुई है और वह कहता है कि इस सूत्र के अनेक शब्द संदिग्ध अर्थ वाले हैं। सूत्र की टीका इस प्रकार की गई है—'दत्ता अन्यस्मै वाचा प्रतिश्रुता उदकपूर्वम् वा प्रतिपादिता। गुप्ता अदर्शनार्थम् कञ्चुकादिभिरावृता प्रयत्नसंरक्ष्यमाणा वा दोशील्यादिशंकया: द्योता पिंगाक्षी बभ्रुकेशी वा विषमदृष्टिर्वा। ऋषभा प्रधाना ऋषभस्येव शरीरं गतिशीलं वा यस्यास्सा ककुद्वास्ति यस्यास्सा। शरभी शीर्णदीप्तिः सर्वनीललोम्नी वा अरूपा वा...' इत्यादि।

३. बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत् (आश्व० गृ० सू० १, ५, २)।

४. आश्व० गृ० सू० (१, ५, १)।

विद्वान् होने चाहिएं। गोभिल के अनुसार कन्या का असगोत्रा,[१] मातृ-पक्ष में असपिण्डा[२] और नग्निका होना जरूरी है। खादिर गोभिल का अनुमोदन करता है। हिरण्यकेशी में इन प्रतिबन्धों की संकीर्णता कुछ और अधिक बढ़ जाती है। वह कहता है कि वधू वर के ही देश (ग्राम-या नगर) और जाति की होनी चाहिए।[3]

विवाह-सम्बन्धी अन्यान्य नियमों एवं प्रतिबन्धों की अपेक्षा गोत्र तथा सपिंड सम्बन्ध वाले नियम अब भी हिन्दू-समाज में बहुत अधिक मान्यता ग्रहण किए हुए हैं। उत्तरी भारत में सगोत्रीय विवाह की कल्पना ही अकल्पनीय-सी है। कहीं-कहीं तो, जैसे महाराष्ट्र में माता और पिता दोनों के ही गोत्रों को छोड़ देना होता है। उड़ीसा के ब्राह्मणों में सगोत्र सम्बन्ध का बड़ी कठोरता के साथ परिहार किया जाता है। बम्बई प्रान्त के अनावला ब्राह्मण सात कक्षा (? या पीढ़ी ? Seven degrees of relationship) तक सगोत्र विवाह की अनुमति नहीं देते; परन्तु औदिच्य ब्राह्मणों में वंशनाम (Surname) भिन्न होने पर तथा मोध ब्राह्मणों में प्रवर भिन्न होने पर सगोत्र विवाह हो जाता है। बिहार के शकद्वीपी ब्राह्मणों में गोत्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आसाम, गढ़वाल और मारवाड़ में भी गोत्रविषयक प्रतिबन्ध कम देखे जाते हैं; बल्कि कभी-कभी तो चचेरे भाई-बहनों तक में विवाह हो जाते हैं।[४]

---

१. गो० गृ० सू० ४, ४, ६। बोधायन ने अपने धर्मसूत्र (२, १, १, ३७) में आदेश दिया है कि जो व्यक्ति भूल से अपने ही गोत्र में विवाह कर लेता है उसे चाहिए कि विवाहिता स्त्री का अपनी माता के समान पालन-पोषण करे।

२. गो० सू० १४, १३ के अनुसार सपिंड-सम्बन्ध पांचवें या सातवें पूर्वज के साथ समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में और भी देखिए, मनु (५, ६०) आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२, ६, १५, २) में मातृ-पक्ष या पिता-पक्ष के छठी कक्षा तक के संबन्धी के मरने पर पुरुष को स्नान करने का आदेश दिया गया है।

३. हि० गृ० सू० १, ६, १७, २।

4. Census of India, 1911, Vol. I पृष्ठ २५०—५१।

विवाहोपयुक्त समय का विधान

कन्या का वरण हो चुकने पर विवाह के लिए शुभ दिन और शुभ समय नियत किया जाता था। गृह्यसूत्रों में विवाहोपयुक्त समय के विषय में विधान है। सूर्य के उत्तरायण होने पर, शुक्ल पक्ष के भीतर, किसी शुभ नक्षत्रयोग में—या फिर, जैसा कोई-कोई कहते हैं, किसी भी अनुकूल अवसर पर[१]—प्रातः समय, पूर्वाण्ह में, मध्यान्ह में, उत्तराण्ह में अथवा सायंकाल को विवाह-कर्म होना चाहिए।[२] किन्हीं-किन्हीं गृह्यसूत्रों ने शुभ महीनों और शुभ नक्षत्रों के नाम भी दिए हैं—यथा उत्तराफाल्गुनी[३] नक्षत्र में तथा माघ, फाल्गुन और आषाढ़ के महीनों को छोड़ कर शेष महीनों[४] में विवाह करना उचित है। कौशिक के अनुसार[५] कार्तिक से वैशाख तक—अथवा फिर चैत्र और आश्विन को छोड़ कर जब भी किसी को सुविधा हो - किसी भी महीने में विवाह किया जा सकता है।[६]

उत्तरी भारत ब्राह्मणों में विवाह आजकल साधारणतः जाड़ों के दो-तीन महीनों और गरमियों के दो-तीन महीनों—प्रायः अप्रैल, मई और जून—में किए जाते हैं। कहीं-कहीं के कुछ लोगों में नौ, दस, या ग्यारह वर्ष में केवल एक बार विवाह करने का रिवाज है। बड़ौदे के मरवाड़े

---

१. आप० गृ० सू० १, ४, २।

२. हि० गृ० सू० १, ६, १६, ३।

३. पार० गृ० सू० १, ४, ६, ७।

४. बोधायन गृ० सू० १, १, १६

५ कौ० सू० १, ७५, २-४।

६. पारसियों में भी विवाहोपयुक्त अवसर बहुत-कुछ हिन्दुओं के समान ही माने जाते हैं। पारसी लोग द्वितीया और पूर्णिमा को विवाह कर्म के लिए शुभ, तथा मंगलवार को अशुभ, समझते हैं। आजकल भी पारसी परिवारों में शुभ मुहूर्त देखने-बतलाने के लिए प्रायः हिन्दू ज्योतिषियों को बुलाया जाता है। देखिए जे० जे० मोदी की The Religious Customs and Ceremonies of the Parsees, पृष्ठ १७।

बारह, पन्द्रह या चौबीस वर्ष में, और मोतल ब्राह्मण चार वर्ष में, एक बार विवाह का समय मनाते हैं। मद्रास के चेट्टियों में दस या पन्द्रह वर्षों में एक बार अठारह महीने के लिए, जब कि बृहस्पति सिंह राशि में आता है, विवाह स्थगित रहते हैं। परन्तु क्योंकि इस नियम को मानने-वाली बहुत सी जातियों में बाल-विवाह प्रचलित है इसलिए इस नियम के पालन का वास्तविक वैवाहिक जीवन के आरम्भ से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है।[1]

विवाह की पद्धति

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध मुख्यतः विवाह की पद्धति, उसके कर्मकांड, से ही है, जिसका वे काफ़ी विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। यह विस्तार भिन्न-भिन्न गृह्यसूत्रों में अपेक्षा की दृष्टि से न्यूनाधिक रूप में मिलता है और कहीं-कहीं उसके अंगों के पौर्वापर्य-क्रम में भी थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। पद्धति के अंगों की सबसे अधिक संख्या शांखायन गृह्यसूत्र में मिलती है। दूसरे गृह्यसूत्रों में कोई नए अंग नहीं दिए गए हैं, शांखायन-वाले अंगों को ही कहीं कुछ घटा कर और कहीं कुछ हेर-फेर के साथ भिन्न क्रम से दे दिया गया है। शांखायन-गृह्यसूत्र में विवाह पद्धति का जो विस्तार दिया गया है वह इस प्रकार है—

प्रारम्भिक क्रियाएँ

सबसे पहले 'प्रस्तावक' लोग लड़की के यहाँ उसके पिता की स्वीकृति के लिए भेजे जाते थे। प्रस्तावकों के भेजे जाने और कन्या के पिता से उनके प्रार्थना करने की अलग एक छोटी-सी पद्धति थी जब वे कन्या के घर के लिए प्रस्थान करते थे तो उनके अभिलक्ष्य से कुछ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। फिर कन्या के पिता की स्वीकृति मिल जाने पर वे कन्या को भुने नाजों, फल तथा यव आदि से भरा हुआ एक पात्र भेंट करते थे। कन्या-पक्ष का आचार्य उस पात्र को मन्त्रोच्चार-सहित कन्या के सिर पर रखता था। इसके बाद 'बात पक्की' समझी जाती थी।

---

१. Census of India, 1911. Vol. I, पृष्ठ २४८।

आजकल इस क्रिया का कुछ अवशेष 'गोद भरने' की रस्म में देखा जाता है।

वर के यहाँ वधू-गृह के लिए विवाह-मंडली (बारात) के साथ रवाना होने से पहले वर को एक छोटा-सा यज्ञ या होम करना पड़ता था। यह गृह्याग्नि (गार्हपत्य अग्नि) में किए जाने वाले नैमित्तिक हवन के ढंग का ही होता था जिसमें, इस अवसर पर, 'आवाप' अर्थात् विवाह (कर्म में दी जाने वाली विशेष आहुति) की वृद्धि हो जाती थी।[1] उसके बाद कुछ और शुभ क्रियाएँ की जाती थीं[2] और तब प्रसन्नवदना गाती हुई स्त्रियों से घिरा होकर[3] वर वधू-गृह के लिए रवाना होता था।

---

१. शांखायन ने चार खंडों में इस याग का वर्णन किया है। और भी देखिए पार गृ० सू० १, ४, ६।

२. गृह्यसूत्रों में इन शुभ क्रियाओं का वर्णन नहीं है, केवल उनका संकेत-भर है। परन्तु ऐसी कुछ क्रियाएँ अब भी वर-यात्रा के कई दिन पहले से भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में होती हुई देखी जाती हैं। उत्तरी भारत में इन क्रियाओं में सब से प्रधान 'हलद' (या-हलदी') और 'घुड़चढ़ी' की रीतियाँ हैं। 'हलद' के दिन वर के तमाम शरीर पर हलदी का लेप किया जाता है और उसके दाहिने मणिबन्ध में 'कंगन' या 'कँगना' बाँधा जाता है घुड़चढ़ी' की रस्म विवाह वाले दिन बारात के रवाना होने से पहले की जाती है, जब कि वर को घोड़े पर बिठा कर घर से कुछ दूर, अथवा वधू गृह तक ही, ले जाया जाता है। यदि बारात को किसी दूसरे ग्राम या नगर में जाना होता है तो यह रस्म पिछले दिन की गोधूलि-वेला में कर ली जाती है और फिर वर को बारात के प्रस्थान समय तक देवमन्दिर या धर्मशाला आदि किसी अन्य स्थान में ठहरा दिया जाता है। 'घुड़चढ़ी' को छोड़ कर विवाह से पहले की ऐसी ही कुछ रीतियाँ वधू के घर में भी वधू के लक्ष्य से की जाती हैं।

३. इस रीति का दूसरे गृह्यसूत्रों में वर्णन नहीं है। परन्तु भारत के विभिन्न स्थानों में किन्हीं-किन्ही जातियों में यह अभी भी प्रचलित है। पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण, तथा खत्रियों के कई उपवर्गों में कुटुम्ब की स्त्रियाँ भी बारात के साथ जाती हैं। युक्त प्रान्त के कुछ ब्राह्मणों में स्त्रियां, यदि विवाह उसी नगर या ग्राम में होता है तो, विवाह के दूसरे दिन (जिसे 'बढ़ार' का दिन कहा जाता है) वधू के घर जाती हैं। पारसियों में स्त्रियाँ विवाह के दिन ही वधू के घर जाकर उसे अर्थ-भेट—चाँदी केद्‌वू सिक्कों के रूप में—देती हैं। प्राचीन ईरान में इस प्रथा को 'नाम पाद्रन्' कहते थे।—देखिए जे० जे० मोदी की The Religious Customs and Cremonies of the Parsees, पृष्ठ १७-१८।

जिस दिन बारात वधू के घर पहुंचती थी उसी दिन (?) वधू के लिए भी उसके यहाँ एक छोटी-सी पद्धति का पालन किया जाता था। उस दिन की पिछली (अथवा उससे दूसरी पिछली, अथवा तीसरी पिछली) रात को, रात्रि का अन्धकार दूर होने पर, कन्या को गन्ध-जल से स्नान कराया जाता था और नए रंगीन कपड़े पहनाए जाते थे। तदनन्तर आचार्य उसे होमाग्नि के समीप बिठाकर महाव्याहृति मन्त्र[1] से हवन करता था और अग्नि तथा दूसरे देवताओं को आज्य-आहुति अर्पित करता था। तदुपरान्त चार या आठ स्त्रियाँ (जो भोजन सुरा और फलादिक से तृप्त कराई जा चुकती थीं) चार वार नृत्य करती थीं, और इसके बाद ब्राह्मण-भोजन होता था।

विवाह-कर्म

बारात के वधू गृह पर पहुंचने पर वर और वधू नियत मुहूर्त पर विवाह-वेदी के पास लाए जाते थे। हमारा गृह्यसूत्र इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर एकदम वर-द्वारा वधू का वस्त्र और अञ्जन-पेटी (?) दिए जाने की क्रिया का वर्णन करता है। इस क्रिया के बाद वर और वधू दोनों का अनुलेपन (?) किया जाता था जो, ओल्डेनवर्ग के विचारानुसार[2], कोई तीसरा व्यक्ति करता था। तदनन्तर वर वधू के बाएँ हाथ में एक दर्पण (आरसी) देता था और वधू के सम्बन्धी उसके शरीर में (?) तीन मणि-यन्त्रों (ताबीजों) से युक्त एक लाल और काले रँग का ऊनी या रेशमी सूत्र बांधते थे। पुनः वर उसके शरीर में (?) मधूक पुष्प बाँधता था। बाद में होमाग्नि के पास उसे विठा कर—वधू इस बीच वर को पकड़े रहती थी—वर महाव्याहृति मन्त्र से चार आहुतियाँ देता था। उपर्युक्त समस्त क्रियाओं में उपयुक्त मन्त्रों का उच्चारण होता रहता था।

---

१. भूः भुवः स्वरः

२. ओल्डेनबर्ग ने इस अनुमान के लिये जो कारण प्रस्तुत किए हैं उनके लिए देखिए—S. B. E., Vol xxxix, पृष्ठ ३३, फुटनोट १२, ४।

इसके बाद पद्धति का अधिक महत्वपूर्ण भाग आरम्भ होता है जब कि लड़की का पिता या भाई, 'अपने श्वसुर गृह की रानी बनो', इस आशीर्वाक्य को कहता हुआ उसे पूर्वाभिमुख बिठा कर उसके सिर पर स्रुव अथवा तलवार के सिरे को धारण करता है। पर उसके दाहिने हाथ को अपने दाहिने हाथ में इस प्रकार पकड़ता है कि दोनों हाथों की हथेली और अँगूठे ऊपर की ओर रहते हैं और 'अमी-हमस्मि' आदि मन्त्र का उच्चारण करता है। पुरोहित 'भूर्भुवः स्वः' का उच्चारण करता हुआ एक नए कलस को पानी से भर कर उसमें किसी पुल्लिंग नाम वाले वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाएं तथा कुश (तृण) डालकर एक ब्रह्मचारी के हाथ में देता है जो उसे लेकर चुपचाप खड़ा रहता है। यह कलश-जल 'स्थेय' कहलाता है जो उत्तर-पूर्व की दिशा में रख दिया जाता है और जिसकी वर-वधू को परिक्रमा करनी होती है। तदनन्तर पुरोहित उत्तर की ओर एक शिला (अश्म-खंड) बिछाता है और वर-वधू को उठने के लिए कह कर उस शिला पर खड़ा करता है। फिर दोनों अग्नि की परिक्रमा करते हैं और वर-वधू को एक दूसरा वस्त्र प्रदान करता है। इसके बाद लाजा-होम होता है। लड़की का पिता या भाई लड़की की अन्जलि में शमी के पत्ते और लाजा (खील) एक डलिया में से लेकर डालता है और लड़की उन्हें अग्नि में छोड़ देती है। उसके ऐसा करते समय वर मन्त्रोच्चार करता जाता है। अश्मारोहण (शिला पर खड़ी होने) आदि की ये तमाम क्रियाएँ दो या तीन बार दोहराई जाती है।

इसके बाद वर-वधू उत्तर-पूर्व दिशा में सात कदम चलते हैं। इस क्रिया का नाम 'सप्तपदी' है और इसके द्वारा उनकी आजीवन मैत्री स्थापित हो जाती है। आचार्य उनके पद-चिह्नों को 'स्थेय' जल से निर्वापित करता है और वर-वधू के सिर पर 'स्थेय' जल छिड़कता है। वर उसे उपहार देता है।

विवाहोत्तर क्रियाएं

पितृ-गृह से प्रस्थान करने से पहले वधू, जिस रथ में यात्रा करती है उसकी धुरी, पहियों (की धुरी) और बैलों (के पैरों मस्तक या सींगों) को घी का लेप करती है। फिर जूए के दोनों ओर के छिद्रों में किसी फलयुक्त वृक्ष की टहनी डालने के बाद रथ में जोत दिए जाते हैं और वधू उसमें बैठकर पति-गृह को जाती है। मार्ग में स्थान-स्थान पर शुभ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है और तरह-तरह की शुभ-क्रियाएँ होती चलती हैं।

वर पहुंचकर उसे एक लाल रंग के बैल की खाल पर बिठाता है और उपर्युक्त मन्त्रों के साथ अग्नि में चार आहुतियाँ देता है। वधू इस बीच में उसे पकड़े रहती है। फिर एक मन्त्र पढ़कर वह उसकी आंखों में 'आज्य' का अंजन डालता है, उसके बालों का स्पर्श करता है और बचे हुए आज्य को उसके सिर पर छोड़ देता है। इस समय कोई व्यक्ति एक ऐसे बालक को, जो अपने माता और पिता दोनों की ही ओर से कुलीन हो, वधू की गोद में बिठाते हैं। वर उस बालक के हाथ में फल रखता है और ब्राह्मणों से आशीर्वाद देने की प्रार्थना करता है कि 'यह दिन शुभ हो।'

इसके बाद दोनों साथ-साथ दही खाते हैं और ध्रुव के उदय तक अपने स्थान पर बैठे रहते हैं। वर वधू के दर्शन कराता है। वधू कहती है—'मैं ध्रुव तारे का दर्शन कर रही हूं। मैं सन्तानवती बनूँ।' तीन दिन तक दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते हैं, पृथ्वी पर सोते हैं, उबला हुआ भात खाते हैं और विवाहाग्नि को—जो अब गार्हपत्याग्नि है—'जिंवाते' हैं, अर्थात् उसमें भक्तान्न की आहुति देते हैं। दस दिन तक वे घर से बाहर नहीं निकलते।

चौथे दिन वर भक्तान्न की आठ आहुतियाँ देता है। शांखायन चतुर्थ रात्रि के सहवास के बारे में कुछ नहीं कहता है। वह ऋतु-समय के बाद गर्भाधान की विधि का अवश्य वर्णन करता है। यह आवश्यक

नहीं था कि विवाह के तुरन्त बाद ही ऋतु-समय हो, अतएव गर्भाधान वर्णन से चतुर्थ रात्रि के सहवास का अर्थ नहीं लगाया जा सकता। परन्तु तीन रात तक ब्रह्मचर्य रखने के आदेश से परोक्ष ध्वनि निकाली जा सकती है। ध्वनि यही निकाली जा सकती है कि चतुर्थ रात्रि के सहवास का निषेध नहीं था, परन्तु उसके लिए कोई स्वतन्त्र या विशेष रीति विहित नहीं थी।

दूसरे गृह्यसूत्रों की विवाह-रीति]

दूसरे गृह्यसूत्रों में शांखायन का-सा विस्तार-वर्णन कहीं नहीं मिलता। कन्या के पिता की स्वीकृति के बाद वर जो होम पहले-पहल अपने यहाँ करता था उसका आश्वलायन ने बहुत ही संक्षेप में उल्लेख किया है। पारस्कर में उसका कोई वर्णन नहीं है। वह केवल उस स्थान का वर्णन करता है जहाँ विवाहाग्नि प्रज्वलित की जानी चाहिए[1] वर के यहाँ होने वाली प्राथमिक रीतियों का कोई उल्लेख न करके जिस आकस्मिक ढंग से वह एकदम वधू-गृह में होने वाले विवाह-कर्म का वर्णन करने लगता है, उससे अनुमान होता है कि यह विवाहाग्नि वही अग्नि थी जो शांखायन की विधि के अनुसार वर के घर पर प्रज्वलित की जाती थी और जिसके चतुर्दिक् विवाह का कर्म-काण्ड किया जाता था। यहाँ यह दर्शनीय है कि विवाह से पहले वर के घर पर होनेवाले होम-कर्म में जिस 'आवाप' का शांखायन ने विधान किया है पारस्कर में उसका विधान वधू-गृह में होनेवाले महाव्याहृति-यज्ञ के साथ है।

दूसरों की सम्मति देने के बाद पारस्कर बतलाता है कि विवाहाग्नि का उत्पादन अरणियों को रगड़ कर किया जाना चाहिए।[2] पारस्कर शुक्ल यजुर्वेद का सूत्रकार है। हिरण्यकेशी भी, जो कृष्ण यजुर्वेद का सूत्र-कार है, अग्नि-प्रतिष्ठा की विधि का बहुत-कुछ पारस्कर की ही भांति वर्णन करता है। हिरण्यकेशी ने भी वर के घर पर होनेवाली प्रारम्भिक

१. पा० गृ० सू० १, ४, २।

२. पा० गृ० सू० १, ४, ४।

रीतियों का वर्णन नहीं किया है। पारस्कर के वर्णन में हम प्रारम्भ में ही वर-द्वारा वधू को वस्त्र-दान और उन दोनों के साथ-साथ अनुलेपन का उल्लेख पाते हैं। इसके बाद अग्नि की परिक्रमा होती है, फिर महा-व्याहृति-मन्त्र की आहुतियाँ, फिर लाजा-होम, फिर पाणिग्रहण, तदनन्तर अश्वारोहण उसके बाद प्राजापात्य होम और अन्त में सप्तपदी का क्रम घटित होता है।

हिरण्यकेशी में अग्नि-उत्पादन के बाद वधू वर के पास लाई जाती है और वह उसकी ओर देखता है। इससे शायद यह अनुमान किया जा सके कि यहाँ अग्नि-उत्पादन वधू के घर पर होता था। वधू वर के दक्षिण में बैठकर जल का आचमन करती है और वर महाव्याहृति की आहुतियों से हवन करता है।[1] इसके बाद क्रमशः अश्वारोहण, पाणिग्रहण, लाजा-होम, अग्नि की परिक्रमा और सप्तपदी की क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार आपस्तम्ब और बोधायन के वर्णनों में भी वधू-गृह में होनेवाली क्रियाओं से ही आरम्भ किया गया है। आपस्तम्ब में, बिलकुल आरम्भ में ही हमको एक बिलकुल नई रीति मिलती है जो सम्भवतः बिलकुल एकदेशीय ही रही होगी। वह यह कि—वर वधू के सिर पर दर्भ-तृणों की बुनी हुई एक जाली रखता है, उसके ऊपर दाहिने जूए के छिद्र (?) को रखता है, पुनः उसके ऊपर एक सोने का टुकड़ा रखता है, और फिर वधू का प्रक्षालन (?) करता है।[2] इसके बाद तो फिर सामान्य रीतियाँ इस क्रम से चलती हैं—वर वधू को वस्त्र देता है, अग्नि के पश्चिम में उसे आसन पर बिठाता है, उसका हाथ पकड़ता है (पाणिग्रहण), उसे सात क़दम चलवाता है (सप्तपदी), अग्नि की परिक्रमा करवाता है, महाव्याहृति की आहुतियाँ देता है, उसे शिला पर खड़ी करता है और लाजा की आहुतियाँ देता है। बोधायन-गृह्यसूत्र में विवाह का वर्णन पाणिग्रहण की क्रिया से आरम्भ होता है।

१. हि० गृ० सू० १, ६, १६, ४–७।
२. आप० गृ० सू० २, ४, १।

वास्तव में ऋग्वेद गृह्यसूत्रों को छोड़कर शेष लगभग सभी सूत्रों में विवाह-वर्णन वधू-गृह में होनेवाली क्रियाओं से ही आरम्भ होता है। इससे अनुमान होता है कि वर के यहाँ होनेवाली रीतियों को शायद किसी व्यापक अपरिहार्य धार्मिक नियम का महत्व प्राप्त नहीं था; उनका महत्व तत्तद्देशीय विश्वासों की विलक्षणता अथवा तत्तत् ऋषियों की कुल-रीति के अनुपालन में ही रहा होगा। इस अनुमान की पुष्टि आश्वलायन के कथन[1] से भी होती है जब कि वह असामान्य रीतियों का वर्णन न करके केवल सर्व-सामान्य रीतियों का ही वर्णन करता है, जो कि वधू-गृह में विवाहाग्नि के इर्द-गिर्द की जाती थीं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सम्पूर्ण विवाह-पद्धति वास्तविक महत्वपूर्ण अंगों के रूप में हमें जो क्रियाएँ या रीतियाँ मिलती हैं वे केवल पाणिग्रहण, अश्वारोहण, अग्नि-परिक्रमा, लाजाहोम और सप्तपदी की क्रियाएं ही हैं। सभी गृह्यसूत्रों में इनका विधान है, यद्यपि उनका क्रम कहीं-कहीं बदल जाता है।

इन रीतियों में से अनेक रीतियाँ अभी भी विद्यमान हैं, कुछ तो सार्वत्रिक रूप में और कुछ अमुक-स्थानीय रूपों में। इनमें कोई-कोई रीति तो पुरानी भी इतनी है कि आर्य-ईरानी युग से भी पहले तक उसका अनुसरण किया जा सकता है[2]। जिन रूपों में ये रीतियाँ वर्तमान

---

१. अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समानं तद्वक्ष्यामः आश्व० गृ० सू० १, ७, १—२।

२. पाणिग्रहण की रीति एक ऐसी रीति है। देखिए जे० जे० मोदी की The Religious Customs and Ceremonies of the Parsees पृष्ठ ३३। '... दोनों एक दूसरे का दाहिना हाथ पकड़ते हैं और पुरोहित उनके हाथों को कच्चे धागे से बाँधता है। इस प्रथा को 'हथेवोरा' या हथ-बन्धन कहते हैं। पाद-टिप्पणी में फिर मोदी कहते हैं—'प्राचीन काल के यूनानियों में हथ-बन्धन की रीति-द्वारा विवाह-प्रतिज्ञा का निष्पन्न होना माना जाता था। प्राचीन रोमन जाति में पुरोहित वर-वधू को दो कुर्सियों पर बिठा कर, जो पास-पास रक्खी जाती थी और जिन पर ऊन का आस्तरण होता था, उनके

समय में भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में देखने में आती हैं उनका वर्णन मि० गेट ने इस प्रकार किया है—

'विवाह के आवश्यक और अपरिहार्य अंग भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। पंजाब में सबसे आवश्यक अंग अग्नि की परिक्रमा या 'फेरों' को माना जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि वर और वधू ने अपनी वैवाहिक प्रतिज्ञाएँ अग्नि तथा अन्य देवताओं की समक्षता में की हैं। युक्त प्रान्त में वर-वधू अग्नि की नहीं बल्कि विवाह-मण्डप या 'यूप' की परिक्रमा करते हैं। युक्त-प्रान्त के पूर्वी भाग में तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में वैवाहिक बन्धन का रूप 'सिन्दूर-दान', अर्थात् वधू के मस्तक पर सिन्दूर लगाने, की रीति से निष्पन्न होता है। यह कदाचित् रक्त-दान द्वारा प्रतिज्ञाबद्ध होने की किसी प्राचीन प्रथा का वर्तमान रूप है? इसका अनुमान इस बात से होता है कि 'हारी' जैसी कुछ जातियों में वर और वधू एक दूसरे का

हाथों में बन्धन देता था। आजकल के हिन्दू भी वर-वधू के हाथों को आपस में मिलवाते या जुड़वाते (परस्पर ग्रहण करवाते) हैं। फिनलैंड में वधू का पिता हथ-बन्धन करता है……असीरियनों में वर का पिता दोनों के हाथों को सनी डोरे से बांधता था।' और भी देखिए Hopkins की Cambridge History of Ancient India पृष्ठ २३३—'निस्सन्देह आश्वलायन-गृह्यसूत्र का लेखक स्पष्टतः कहता है (१,७,१) कि विवाह की प्रथाएँ अनेक हैं और विभिन्न हैं, और वह केवल उनका ही वर्णन करता है जो सर्व सामान्य हैं। इस भाँति वह हमें बतलाता है कि वधू अग्नि के पास आये……आदि, परन्तु दूसरी रीतियों का उल्लेख नहीं करता जो अन्य गृह्यसूत्रों में दी हुई हैं। इनमें से कुछ प्रथाएँ ऐसी हैं जिनका चलन बड़ा व्यापक है, और हिन्दू-प्रथाओं की आर्य-भाषी जातियों की प्रथाओं से तुलना करने पर मालूम होता है कि हिन्दू-प्रथाओं में ऐसे तत्व विद्यमान हैं जिन्हें प्रागैतिहासिक युगों तक में खोजा जा सकता है।'

२, इस अनुमान को सहसा स्वीकार कर लेने में कुछ कठिनाई हो सकती है, केवल विवाह में ही नहीं वरन् प्रत्येक शुभ कृत्य में, पंजाब और संयुक्त-प्रान्त के लोगों में स्त्री के, और विशेष रूप से पुरुष के, मस्तक पर रोली या

अनुलेपन अपने रक्त से करते हैं, जिसे वे अपनी उंगली में काँटा या सूई चुभाकर निकालते हैं। बम्बई में उच्च वर्ण अग्नि की परिक्रमा करते हैं, छोटी जातियों में वर और वधू में ऊपर चावल के दाने छोड़े जाते हैं और द्राविड़-परम्परा के कुछ लोग वर-वधू के संयुक्त करों में (या अंजलि में) जल या दूध डालते हैं। उड़ीसा में दोनों के हाथों में कुश का बन्धन दिया जाता है···मद्रास में कई प्रकार की प्रथाएं प्रचलित हैं, यथा दोनों को एक ही बर्तन में भोजन कराना, अथवा उनके वस्त्रों में ग्रन्थि-बन्धन करना, अथवा फिर उनके ऊपर इस प्रकार जल छोड़ना कि वह वर के ऊपर से गिर कर वधू के ऊपर पड़े। परन्तु सबसे अधिक प्रचलित प्रथा वर का वधू के गले में हार या माला का डालना है। ब्राह्मण जाति का वर-वधू के पैर को सात बार उठा कर एक चक्की के पाट में ऊपर रखवाता है, जो दृढ़ता और स्थायित्व का प्रतीक समझा जाता है[1]।

वर के घर पर होने वाली रीतियाँ वधू-गृह की रीतियों की अपेक्षा संख्या में कम होती थीं। वधू-गृह वर के गृह तक की यात्रा में. और यात्रारम्भ से पहले अनेक छोटी-छोटी रस्में होती थीं जिनमें से कितनी ही का रूप तो अमुक-अमुक विशेष स्थानों पर, अथवा कोई दुर्घटना या दुर्निमित्त होने पर, एक दो अशुभ-नाशक मन्त्रों के उच्चारण से अधिक न होता था। शांखायन के अनुसार हम देख चुके हैं, यात्रा से पूर्व वधू रथ की धुरी, पहिए और बैलों का अनुलेपन करती थी और जूए के छिद्रों में फलयुक्त वृक्ष की टहनियाँ डालती थी (१,१५,१-७)।

कुंकुम का आड़ा या सीधा तिलक अनेक बार लगाया जाता है। पारसियों में भी वर का स्वागत उसके मस्तक पर कुंकुम का तिलक लगा कर तथा उस पर अक्षत चिपका कर करते हैं। प्राचीन गृह्य-पद्धति में कहीं एक बार भी रक्त-दान का उल्लेख नहीं पाया जाता। मस्तक के ऊपर कुंकुम या रोली का तिलक सौभाग्य और समृद्धि का चिन्ह समझा जाता है।

१. Census of India, 1911, Vol, 1, पृष्ठ २१७-१८।

इसके बाद पहले दाहिने पार्श्व का और फिर बाएँ पार्श्व का बल जीता जाता था, जसा कि उस अवसर प्रयुक्त मन्त्र (१,१५,८) से और आपस्तम्ब में इसके स्पष्ट निर्देश से (२,५,२१) ज्ञात होता है। इस तरह की प्रथाएँ या तो केवल स्थानीय प्रचलन की वस्तु थीं या समय-भेद से बनती-बदलती रहती थीं और जितने गृह्यसूत्र हैं उतने उनके अलग-अलग भेद देखने को मिलते हैं। विवाहोपरान्त होने वाली रीतियों या प्रथाओं के विषय में गृह्यसूत्रों में साम्य कम और भेद अधिक देखने को मिलता है। हम देख ही चुके हैं कि शांखायन के अनुसार वधू किस प्रकार यात्रारम्भ करती है। ऋग्वेद की दूसरी शाखा के गृह्यसूत्र के अनुसार सप्तपदी की क्रिया के बाद वधू को उस रात को एक ब्राह्मणी के यहाँ रहना पड़ता था जिसके पति-पुत्र जीवित हों। यहाँ वह ध्रुव से दर्शन करतो थी और अपने पति के दीर्घायुष्य के लिए तथा सन्तानवती होने के लिए प्रार्थना करती थी। इसके बाद वह ससुराल के लिए रवाना होती थी (१,७, २१ तथा १,८,१)। दूसरे कई गृह्यसूत्रों में ध्रुव-दर्शन वधू के वर-गृह में पहुंचने के बाद कराया जाता है।

वधू के ब्राह्मणी के घर पर सोने की बात सामवेद के सूत्रों में दी गई रीति से मिलती है। अन्तर इतना ही है कि सामवेद के सूत्रों में मकान ब्राह्मणी का न होकर किसी ब्राह्मण का होता है। वहाँ वह अग्नि के पश्चिम में लाल रंग के वृषभ-चर्म पर ध्रुव के उदय तक चुपचाप बैठी रहती है। इसके उपरान्त वर के आज्य-आहुतियाँ देने के बाद उसे ध्रुव और अरुन्धती नक्षत्रों के दर्शन कराता है[1]। किसी-किसी के अनुसार ध्रुव-दर्शन के पहले दोनों को अग्नि की परिक्रमा करनी होती थी[2]।

१. गो० गृ० सू० (२,२ १६, तथा २, ३, १०); खादिर गृ० सू० (१, ६, १-४)।

२, खाभिर गृ० सू० १, ४, ४।

एक स्थान पर[1] हम पढ़ते हैं कि सप्तपदी के बाद एक बलिष्ठ पुरुष वधू को भूमि पर से उठा कर पूर्व अथवा उत्तर दिशा के किसी एकान्तस्थित मकान में ले जाता था और यहाँ वह लाल वृषभ-चर्म के ऊपर बिठाई जाती थी। गोभिल और खादिर के अनुसार भी, हम देख चुके हैं, ब्राह्मण के मकान की दिशा उत्तर-पूर्व बतलाई गई है।

कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों में शांखायन की भाँति ब्राह्मण या ब्राह्मणी के मकान वाली रीति नहीं दी हुई है। परन्तु अन्यान्य बातों में भी उनका शांखायन से, या आपस में भी एक-दूसरे से, मतैक्य नहीं है। हिरण्यकेशी और बोधायन ने तो वधू-यात्रा की कोई रस्म ही नहीं दी है। सामवेद वाला जैमिनी अवश्य उसे यात्रा से पहले ध्रुव-दर्शन करवाता है, परन्तु इसके लिए अथवा यात्रा के लिए किसी विधि का निर्देश नहीं करता है। दूसरी ओर आपस्तम्ब में एक लम्बी-चौड़ी क्रिया दी हुई है। महाव्याहृति-यज्ञ के उपरान्त आज्य-आहुतियों का देना, फिर अग्नि के चारों ओर जल छिड़कने के बाद रस्सी खोलना, तदनन्तर किसी मन्त्र के उच्चारण के साथ रथ को 'उचित स्थान' पर खड़ा करना, पुनः वर को रथ के दाहिने और बाएँ पहिए की लीक पर क्रमशः एक नीले और एक लाल सूत्र का रखना और फिर उस पर स्वयं चलना—ये सब यात्रारम्भ के पूर्व की क्रियाओं के रूप में आपस्तम्ब में हम देखते हैं।[2] आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी दोनों के ही अनुसार विवाहाग्नि का वर के घर ले जाना और उसका सतत प्रज्वलित रखना आवश्यक था। बुझ जाने की दशा में अरणियों-द्वारा दूसरी अग्नि का उत्पादन किया जाता था, अथवा दूसरी अग्नि किसी श्रोत्रिय के यहाँ से लाई जाती थी और वर-वधू में से किसी एक को उपवास करना पड़ता था।[3]

१. पागृ० सू० १, ८, १०।
२. आप० गृ० सू० २, ४, १२, १६-२४।
३. आप० गृ० सू० २, ४, १२-१८; हि० गृ० सू० १७, २२, १-४

वर के मकान पर पहुँचने पर प्रायः कुछ स्त्रियाँ विवाहित युगल का स्वागत करती थीं।[1] कभी-कभी इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता था कि वधू अपने नये गृह में प्रवेश करते समय पहले अपना दाहिना चरण भीतर रक्खे तथा देहली का स्पर्श न करे।[2] मकान के भीतर पूर्व दिशा में एक लाल वृषभ-चर्म पर, जो पहले से बिछा होता था, उसे उठाया जाता था।[3] हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब के अनुसार वर और वधू दोनों को ही वृषभ-चर्म पर बैठना होता था, और शाँखायन के अनुसार नए घर में प्रवेश करने से पहले केवल वधू चर्म पर बैठती थी। किसी-किसी के अनुसार चर्म पर बैठने के बाद किसी प्रकार की बलि भी दी जाती थी तथा कुछ मंत्रों का उच्चारण किया जाता था,[4] और तदुपरान्त एक बालक को वधू की गोद में बिठाया जाता था।[5] सूर्यास्त के बाद वर उसे ध्रुव-दर्शन कराता था। हिरण्यकेशी के अनुसार ध्रुव-दर्शन कराने के बाद वर घर के बाहर जाकर देव-पूजन और नक्षत्र-पूजन करता था तथा पुनः भीतर जाकर वधू से भात की बलि दिलवाता था। बलि से बचे हुए अन्न का एक ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था।

विवाहोपरान्त सहवास का नियम

विवाह के बाद की पहली तीन रात तक ब्रह्मचर्य पालन का कठोर नियम था। वर और वधू दोनों ही भूमि पर सोते थे और उनके लिए सलवण और तिक्त भोजन का निषेध था। चौथी रात को साधारणः

१. गो० गृ० सू० २, ४, ६; जै० गृ० सू० १, २२, २।

२. आप० गृ० सू० २, ६, ८-६।

३. शां० गृ० सू० १, १६, २; आश्व० गृ० सू० १, ८, ६; गो० गृ० सू० २, ४, ६; हिर० गृ० सू० १, ७, २२, ८-६; आप० गृ० सू० २, ६, ८-१०; जैमिनि गृ० सू० १, २२. ३।

४. शां० गृ० सू० १, १६, २-४; आप० गृ० १, ८, ६; गो० गृ० सू०

५. शां० गृ० सू० १, १६, ८; गो० गृ० सू० २, ४, ७; आप० गृ० सू० २, ६, ११; जै० गृ० सू० १,२२,३।

सहवास होता था। ब्रह्मचय-पालन ऋतु-समय के तीन दिनों में भी किया जाता था। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि विवाहोपरान्त त्रि-दिवस ब्रह्मचर्य के नियम और ऋतुकालीन ब्रह्मचर्य के नियम क्या एक ही थे। परन्तु ऐसा नहीं मालूम होता। हिरण्यकेशी ने दोनों अवसरों के तीन दिन वाले आचरण और तदुत्तर सहवास का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है और ऋतु समय-वाला वर्णन विवाहोपरान्त आचरण के वर्णन के तत्काल बाद ही दिया है।[1] आपस्तम्ब तीन दिन तक सहवास का निषेध करने से पहले आदेश करता है कि वर जिस दिन वधू को घर लाए उस दिन को ध्यान में रक्खे[2] (अर्थात् उस दिन से सहवास निषेध के तीन दिन की गणना करनी चाहिए)। इन तीन दिन से सम्बन्ध रखने वाला विधान ऋतु-विधान से भिन्न है, इसका आपस्तम्ब में पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण तब हो जाता है जब हम देखते हैं कि उसने दोनों अवसरों के सहवास के लिए भिन्न-भिन्न मंत्र दिए हैं। वधू जिस दिन अपने नए घर में पहुँचती है उस दिन की क्रियाओं के वर्णन के बाद गोभिल ने जो ब्रह्मचर्य-निर्देश किया है वह *अगले तीन दिन* के लिए है।[3] इसी भांति आश्वलायन में भी हम देखते हैं।[4] आश्वलायन और बोधायन के अनुसार, यदि ऋषि-सन्तान पैदा करनी है तो यह ब्रह्मचर्य-पालन एक वर्ष तक होना चाहिए। इस एक वर्ष की अवधि की माप वैवाहिक जीवन के प्रथम दिवस से ही की जा सकती है न कि यहाँ सम्भवतः विवाह के बाद के प्रथम ऋतु-दर्शन से अवधि मापने का अभिप्राय हो सकता है तो हमें त्रिरात्र-ब्रह्मचर्य के अर्थ को अत्यन्त संकीर्ण कर देना होगा। इसके साथ ही अन्य

१हि० गृ० सू० १, ७, २३, १० से लेकर १, ७, २५ तक।

२एतदहर्विजानीयाद्यदहर्भार्यामावहते। त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जनञ्च। २, ८, ७-८।

३तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ……। २, ३, १५।

४आश्व० गृ० सू० १, ८, १०।

ऋतु-समयों में सहवास न करने के विषय में हमारे पास कोई प्रमाण न रहेगा।

हम देख चुके हैं कि त्रिरात्र-ब्रह्मचर्य को अनिवार्यता होने पर भी चतुर्थ रात्रि का सहवास प्रत्येक दशा में अनिवार्य नहीं था। पर, किसी-किसी के अनुसार वह अनिवार्य भी था। शांखायन, पारस्कर और गोभिल तो सहवास का उपयुक्त अवसर मासिक रजोधर्म के बाद ही समझते हैं[1]। परन्तु कोई-कोई आचार्य ऐसे भी हैं जिन्हें विवाहोपरान्त चतुर्थ रात्रि के सहवास का पक्षपात है, और गोभिल उनके मत की अवहेलना नहीं करता।[2] हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब तो उसे आवश्यक समझते ही थे। अधिक बाद के दिनों में चतुर्थ रात्रि का सहवास स्त्री का एक संस्कार समझा जाने लगा था।[3] अपने ऊपरी रूप में यह प्रथा आजकल की उत्तरी भारत की 'सुहागरात' और बंगालियों की 'फूलशैया' की प्रथाओं से मिलती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि 'सुहागरात' और 'फूलशय्या' की रस्में चतुर्थ रात्रि को ही हो अथवा उनमें सहवास भी होवे ही। धीरे-धीरे कालान्तर में, जैसे-जैसे वैवाहिक आयु की निम्न सीमा कम होती गई होगी, इस प्रथा में से सहवास का महत्व भी घटता गया होगा। परन्तु इतना मानने में कोई अनौचित्य नहीं है कि विवाह-सम्बन्धी तमाम क्रियाओं में इस प्रथा की भी काफी मान्यता थी। ऋग्वेद के समय में भी हम देखते हैं कि उत्सवादि के उपरान्त वर अपनी वधू को रथ में बिठाकर जुलूस के साथ अपने घर ले जाता था। इसके बाद सहवास होता था।[4]

१ शां० गृ० सू० १, १६, १; पा० गृ० सू० १, ११, ७; गो० गृ० सू० २, ५, ८।

२ गोभिल के द्वारा दूसरे के मत से पृथक् अपने मत का यह विवेचन इस बात का एक अतिरिक्त प्रमाण बन जाता है कि चतुर्थ रात्रि के सहवास-निर्देश म अभिप्राय विवाहोपरान्त चतुर्थ रात्रि से ही था।

३ इदमुपगमनमावश्यकं स्त्रीसंस्कारत्वात्—संस्कार रत्नमाला, पृ० ५८५।

4 Vedic Index of Names and Subjects,

प्रथम और चतुर्थ दिवस का महत्व

विवाह के बाद के प्रथम और चतुर्थ दिवस का, इस प्रकार, एक विशेष महत्व था। चतुर्थ दिवस वैवाहिक रीतियों का अन्तिम दिवस होता था। इस दिन वर-वधू के मिथुन-सम्बन्ध को तदुचित पूत क्रियाओं द्वारा मान्यता दी जाती थी। दूसरे शब्दों में, यह उनके मिथुन-सम्बन्ध के उद्घाटन का दिन था। दिवस का महत्व इस बात में था कि उस दिन दो-चार रोज पहिले का ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) गृहस्थ बनकर एक गृहस्थ के पवित्र और कठिन उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर लेता था। इस दिन तो सर्वत्र ही, और लगभग सभी[1] के अनुसार, वर वधू छोटे-मोटे होम करते थे और देवताओं को बलि देते थे। इस प्रथम दिवस से वे सुबह-शाम की बलि देने तथा गार्हपत्य अग्नि में (जो विवाह के अवसर पर प्रदीप्त की गई थी) द्वितीया और पूर्णिमा के चान्द्रायण यज्ञ करने के अधिकारी बनते थे।[2] इस पवित्र गार्हपत्य अग्नि को जीवन भर कायम रखना एक द्विजन्मा का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था क्योंकि इस अग्नि की प्रतिष्ठा में ही उन समस्त जीवन-व्यापी कर्तव्यों, यागादिक क्रियाओं आदि का पालन निविष्ट था जिनको किए बिना एक द्विज नहीं रहता।[3]

१ देखिए शांखायन १, १८; पा० गृ० सू० १, ११, १-५; खादिर गृ० सू० १, ४, १२-१६; गो० गृ० सू० २, ५, २६; हि० गृ० सू० १,२२,११ और १, २४, ३; आप० गृ० सू० १, ३, १०; कौशिक गृ० सू० १०, ७६, ११
२ अश्व० गृ० सू० १, ६; खादिर गृ० सू० १, ५; हि० गृ० सू० १, ७, २६, १-३; आप० गृ०सू० ३, ७, १६ और भी देखिए—"स्मार्त वैवाहिके वन्हौ श्रौतं वैतानिकादिषु।" (व्यास-संहिता २, १७)।

३ देखिए मोनियर विलियम्स की Brahmanism and Hinduism, पृष्ठ ३६४, '......इस क्रिया में प्रयुक्त की जाने वाली अग्नि दो काष्ठ-खंडों को, जिन्हें 'अरणी' कहते थे (ऋग्वेद ७, ११), आपस में रगड़ कर पैदा की जाती थी और इस अग्नि को, जो वर-वधू के विवाह बन्धन की साक्षी होती थी, वे अपने घर ले जाते थे। वहाँ इसके लिए भूमि-खण्ड पर एक अलग कोठरी निर्दिष्ट होती थी जिसमें बड़ी पवित्रता और सावधानी के साथ इसे हमेशा कायम रक्खा जाता था। परम पूजनीय होती थी यह अग्नि। इसको कभी मुँह से नहीं फूँका जाता था और किसी प्रकार की कोई अशुद्ध या

उपसंहार

यह सोचने की अधिक आवश्यकता नहीं रहती कि जिस विवाह के किए जाने में इतनी सावधानी, इतने साधन और इतने प्रबन्ध काम में लाये जाते थे उसके भविष्य के सम्बन्ध में कैसी आशाएं रक्खी जाती होंगी। परम पूत विवाहाग्नि के चतुर्दिक, अति शुभ मुहूर्त्त में, पावन मंत्रों की उद्घोषणा के साथ देवताओं की साक्षी में जिस वैवाहिक जीवन की प्रतिष्ठा होती थी उसकी भविष्य-भावना में सब कुछ शुभ और मंगल-मय ही रहा होगा। समूची विवाह-क्रिया का जो आध्यात्मिक-धार्मिक वातावरण बनता था और उसमें वर-वधू का जिस प्रकार का मानसिक संस्कार जड़ पकड़ता होगा उससे अवश्य ही एक भावी जीवन की—एक ऐसे जीवन की जिससे दोनों एक-दूसरे के सुख के लिए पारस्परिक प्रेम और समादर के भाव से प्रेरित होकर किसी प्रकार की सहज समर्पण-वृत्ति को फलीभूत करते रहे होंगे—कल्पना की जा सकती है। हम देख चुके हैं कि वधू को आशीर्वाद मिलता था कि वह अपने श्वसुर-गृह की रानी बने। श्वशुरालय में वह वास्तव में जिस आदरपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान की भागिनी बनती थी उसके लिए 'वैदिक इन्डेक्स' के रचयिताओं का खोजपूर्ण वक्तव्य[1] पठनीय है। वैवाहिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला विग्रह विवाद उन युगों में यथासम्भव बहुत ही कम पैदा हो पाते होंगे और सम्बन्ध-विच्छेद की परिस्थिति शायद ही कभी उपस्थित होती हो। कहीं कोई एकाध वाक्य[2] यद्यपि पुरुष या स्त्री की ओर से दुराचरण-विषयक सन्देह पैदा कर सकता है, परन्तु ऐसे एक वाक्य से किसी विषम सामा-

---

अपवित्र वस्तु इसमें नहीं पड़ने दी जाती थी। इस अग्नि को पैर गरम करने के काम नहीं लाया जाता था।' देखिए मनु० ४, ५३।

१. Vedic Index of Names and Subjects, पृष्ठ १६४।

२. देखिये—'तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति।' पार० गृ० सू० १, ११, ६।

जिक स्थिति की सूचना नहीं ग्रहण की जा सकती। धर्म-प्रधान गृह्य-पद्धति की सरल निर्मल सुख सम्भावनाओं को आविल करने वाली कोई बात यदि सामाजिक जीवन के अंग रूप में उस समय रही होती तो गृह्य-पद्धति का इस प्रकार चार-पाँच सौ वर्ष तक विस्तार पाते रहना भी सम्भव न होता, और न यही सम्भव था कि उस पद्धति में दुराचरण सम्बन्धी कठिन प्रायश्चितों का कोई भी विधान न होता। प्राचीन समय में सम्बन्ध-विच्छेद जैसी किसी प्रथा का कहीं कोई ज़िक्र नहीं मिलता। अपवाद के रूप में कभी कहीं दुराचरण की कोई बात हो जाने पर समाज का या घर वालों का अपराधी के साथ क्या व्यवहार होता था, इसका हमें पता नहीं। ऐसी सूरतों के लिए किसी प्रकार के आचरण-विधान या दण्ड-विधान का होना ही इस बात का प्रमाण है कि ऐसी सूरतें प्रायः पैदा नहीं होती थीं।

परम्परानुभुक्त ढँग पर, वर्तमान हिन्दू-समाज में भी, तलाक या सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कोई स्थान नहीं है। हम मि० फ्रेजर के इस कथन से सहमत हैं कि 'प्रत्येक धार्मिक हिन्दू के लिये विवाह एक अति पवित्र-बन्धन है और उसमें सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। यदि कोई स्त्री पथभ्रष्टा हो जाए तो वह जातिच्युत की जा सकती है और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा में गिर सकती है। परन्तु जब तक वह जाति में सम्मिलित है तब तक उसका विवाह-बन्धन भी दृढ़ है, पवित्र है।'[1]

---

१. R. W. Frazer Indian Thought Past and Present, पृष्ठ २७२। और भी देखिये, Census of India 1911, Vol. I, पृष्ठ २४५ पर मि० गेट का कथन—'दुराचार की दोषिणी स्त्री को यद्यपि जाति और प्रतिष्ठा से च्युत किया जा सकता है; परन्तु सम्बन्ध-विच्छेद तो, सामान्य अर्थ में, असम्भव ही है।'

Allahabad University Studies, Vol. II में प्रकाशित लेखक के मूल अंग्रेजी लेख Marriage in Grihya Times and Now के आधार पर।

१४

कीमियागर

न मालूम कब से मनुष्य पारद-आदि भिन्न-भिन्न द्रव्यों से सुवर्ण बना लेने की चेष्टा में व्यस्त रहा है। परन्तु आज हम बुद्धिमान बन कर सोना बना लेने की बात को उपहास्य समझते हैं। हमने जैसे निश्चय कर लिया है कि पारद-पारद ही है और वह सोना नहीं बन सकता। हमारा यह निश्चय इतना वैज्ञानिक है कि आधुनिक रसायन द्वारा प्राप्त कुछ स्वर्ण दृश्य परिवर्तनों को देख कर भी हम पारद को अपारद मानने को तत्पर नहीं हो सकते। इसी भाँति विश्व के अन्य पदार्थ भी अपनी विभिन्नता में, प्रकृति के नानात्व में, जो हैं वही हैं—अपने से अन्य नहीं। पारद का, या तत्तद् द्रव्य का, सुवर्ण बन जाना तो अनानात्व का सिद्धान्त है। रसायन-शास्त्र के यौगिक परिवर्तनों में भी अनानात्व का कहीं भी स्वीकार नहीं है। पर, कहीं भी उसका बीज भी नहीं है क्या?

आज भी, सुना है, कोई-कोई रमते योगी आपकी श्रद्धा और भक्ति के प्रतिदान में, सुलफे की कुछ चिलमों की भस्म बना कर, स्वर्ण-निर्माण के रहस्य को आपके सामने उद्घाटित करने के लिए तैयार होते देखे जाते हैं, और, स्वर्ण-रचना की क्रिया में उन योगियों से अधिक महत्व स्वयं आपका रहता है। आप दूसरे की श्रद्धा-भक्ति की अपेक्षा न कर केवल अपनी ही श्रद्धा-भक्ति के बल पर सदा तैयार रहते हैं सोना बनाने के लिए। इस तत्पर रहने में ही आप अपना सोना बनाते रहते हैं।

प्रकृति के ९१,[1] या कितने, मूल द्रव्यों की शोध कम-से-कम ९१

१, अब तो यह संख्या और भी कम होगई है।

की परिमिति तक तो संसार के असंख्य नानात्व की सैद्धान्तिक अस्वीकृति-सी ही लगती है। तब फिर, यह भी असम्भव तो क्यों हो कि ६१-रूप नानात्व की भी १-रूप अ।नाना-परिमिति हो सकती है। इसीलिए क्या, कि हम उसे नहीं जानते-समझते ? हो सके तो नीहारिका का विश्लेषण करके देखिए न। अणुओं के यौगिक भेदों का तर्क परमाणुओं तथा विद्युत्कणों को भी लागू हो जाता है, ऐसा आप कहाँ कह पा रहे हैं। यदि नहीं कह पा रहे हैं तो हमें कहने दीजिए कि अपनी वस्तुता है आपकी रसायन-विद्या (Chemistry) और शक्ति-विद्या (Physics) तक अन्ततः एक ही हैं। और फिर यदि कोई कह सके कि विश्व में जो कुछ भी दिखाई देता है वह विश्व-संचार के, संसृति के, किसी समन्वय, किसी ऐक्य-तत्व, की ही विलास-क्रीड़ा का रूप है तो यह भी कहा जा सकेगा कि विश्व में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब उस ऐक्य-तत्व, उस एक, का ही प्रतीक है। नानात्व की प्रतीकता हो तो स्वर्ण-रचना का भी तत्व है, तो, यानी, पारद का सोना बन भी सकता है।

तात्विक (Clemental) रूप में शुद्ध पारदीय दृष्टि वाले लोग भी जब परमाणु और विद्युत्कण तक पहुँचते हैं तो मानों वे द्रव्य-तत्व और शक्ति-तत्व के सन्धि-स्थल तक तो पहुँच ही जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार परमाणु की चरमता को वे देखते हैं उसी प्रकार शक्ति में भी किसी अन्य चरम तत्व को पकड़ने की प्रवृत्ति उनकी क्यों नहीं होती ? अखिल द्रव्यजात में जिस प्रकार परमाणु चरम हेतु रूप से परिव्याप्त है उसी प्रकार क्या शक्तिमात्र—विद्युत्, ताप, चुम्बकत्व—में गति को, स्थूल-भौतिक दृष्टि के नाते से ही, चरम हेतुरूप नहीं माना जा सकता ? इतना यदि माना जा सके तो द्रव्यतत्व और शक्तितत्व की सन्धि में गतिमान् परमाणु द्रव्यविद्या और शक्तिविद्या के समाहार समन्वय का भी तत्व बन जाता है। क्योंकि गतिहीन परमाणु की वैज्ञानिक कल्पना नहीं की जा सकी और परमाणु के बिना हम गति की कल्पना नहीं कर सकते।

यहाँ तक तो भौतिक प्रत्यक्ष के नाते, अर्थात् परम।णु के वैज्ञानिक

सादृश्य के आश्रय में, गति की कल्पना को सिद्ध मानने के लिए हम मजबूर-से हो जाते हैं। पर इतना मानने के बाद, परमाणु से स्वतन्त्र किसी गतितत्व को स्वीकार करना भी हमारी मजबूरी की ही बात हो जाती है, जब तक कि हम गति को द्रव्यमात्र के गुण (property) के रूप में अभिहित करने को तैयार न हों। परन्तु तब हमें यह भी समझना होगा कि गुण स्वयं क्या चीज़ है। वह द्रव्य और शक्ति से भिन्न किसी अन्य वर्ग की चीज़ है अथवा इन्ही दोनों में से किसी वर्ग की है। एक प्रकार की भारतीय भौतिक विचार-प्रणालो (सांख्य-दर्शन) में 'गुण' अखिल सृष्टि के चरमावयव के रूप में गृहीत किए गए हैं और उनकी संख्या केवल तीन है। परन्तु इन सब से अलग वह विचार-प्रणाली किसी अ-भूत-सिद्ध 'पुरुष'-तत्व का उल्लेख करने को भी शायद मजबूर-सी होती है। क्योंकि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार त्रिगुणों की समावस्था में सृष्टि का विकास नहीं होता, बल्कि उनकी विषमता से होता है। विषमता तभी होगी जब तीनों की सम-स्थिति में आन्दोलन होगा, अर्थात् जब उनमें गति होगी। 'पुरुष' तत्व शायद इसी 'गति' का प्रतीक बनता है। परन्तु, जैसा कहा गया है, 'पुरुष'-तत्व सांख्य-प्रतिपादित भौतिक-सिद्धि-विवेचना से अलग की चीज़ है। वह अभौतिक है।

इस प्रकार एक ओर शक्ति-संयुत परमाणुओं का अविवेचित-अनुल्लिखित गति-तत्व और दूसरी ओर त्रिगुण-सिद्धान्तियों का उल्लिखित परन्तु अविवेचित पुरुष-तत्व सृष्टि के मूल तत्व दिखलाई देते हैं, जिनके द्वारा अणु-परमाणुओं के संगठनों में आन्दोलन और विषमता पैदा होते रहने से सृष्टि का विकास होता है।

ऐसा नहीं है कि इस पुरुष-तत्व अथवा गति-तत्व को समझने की कभी कोई चेष्टा ही नहीं की गई हो। (मनुष्य की जिज्ञासा उस समय तक शान्त नहीं हो पाती जब तक कि वह चरम की भी मूल-भूत किसी अति-चरम व्याख्या को प्राप्त कर चरम को बुद्धिग्राह्य न बना

ले। उदाहरण में, यह जिज्ञासा ही स्वयं भी अपने प्रति कौतुकी बन गतितत्व की अति चरमता को प्रदर्शित करती है।) और गति यदि अपने तात्विक रूप में कोई अनिन्द्रिय-ग्राह्य अभौतिक तत्व है तो उसे उसी रूप में व्याख्यात भी करना होगा और उसकी सिद्धि के लिए भौतिक इन्द्रिय ज्ञान के आधारों का ढकोसला त्यागना पड़ेगा। अर्वाचीन पाश्चात्य वैज्ञानिकों में कोई-कोई झिझकते-झिझकते-से चिति अथवा चेतना-तत्व (Consciousness) का उल्लेख करते देखे जाते हैं। परन्तु भारतीय विचार-प्रणाली की दूसरी-दूसरी शाखाओं ने निर्भीकता के साथ उस अभौतिक चरम तत्व की गहराई में पैठने की चेष्टा की है। उन्होंने अखिल सत्ता के आधार और आश्रय, चित् और आनन्द तत्वों की खोज की है, और यदि देखिए तो, यह चित्तित्व अथवा Consciousness हम तो कहना चाहेंगे चिदानन्द तत्व अथवा चित्सिद्ध-आनन्द-तत्व—ही अन्ततः वह गतितत्व है जो पुरुषरूप होकर सांख्यवादियों के रजो-गुण से कहीं आ मिलता है। यही गति और परमाणु का अभिन्न, अच्छेद्य सम्बन्ध है।

पारद के अणु-परमाणु किसी विशेष गति-सिद्धान्त द्वारा आपस में संगठित होते हैं। सुवर्ण यौगिक द्रव्य है जिसमें विभिन्न आणविक गतियाँ किसी विषमता में एक-दूसरे से मिलती हैं। कीमियागर को यदि इन गतियों का पता लगने के बाद उन गतियों के अभिवांछित विषय संयोजन की शक्ति भी प्राप्त हो जाए तो वह पारे को सोना क्यों नहीं बना लेगा? परन्तु इससे भी आगे बढ़ कर, यदि कोई गति के तत्व—चिदानन्द तत्व—को ही अधिकृत कर सके तो उसके लिए तो, पारद ही क्या, मिट्टी-पत्थर तक सोना है; गतितत्व के इस अधिकरण-अधिकार में पारद और स्वर्ण का वैविध्य नहीं रह जाता। जो पारा है वह सोना है, जो सोना है वह पारा है।

और पारे से सोना तो हम जीवन में प्रत्येक क्षण ही बनाने की चेष्टा करते रहते हैं, पारद से सोना बनाने की क्रिया मूलतः तो हमारी

विवेक-प्रेरित आनन्दानु-धावन की क्रिया ही है, ठीक जिस प्रकार अपने शरीर पर से काटते हुए मच्छर को उड़ाने की अथवा गरम धूप में से शीतल छाया में जाने की क्रिया है। अपने आदर्शों विश्वासों में, अपनी महत्वाकांक्षाओं में, अपने छद्मों और प्रवञ्चनाओं में, हम सभी कीमियागर हैं। हम सभी अपनी जरा-जरा गति में अपनी अनवरत आनन्दानुधावन-वृत्ति में, अपने पारदीय वर्तमान को स्वर्णिम भविष्य बनाने का ज्ञात अथवा अज्ञात प्रयत्न करते रहते हैं। अन्ध-विश्वास के ढँग की सी ही बात लगती है। तथापि, हम अपने सब अंधविश्वासों को भी तो अन्धविश्वास कह कर कब स्वीकार करते हैं। अन्यथा पारद और स्वर्ण के द्वैविध्य पर दृष्टि जमाए हुए हम अपने तथाकथित स्वर्ण और स्वर्णिम भविष्य को किसी परिणाम-तत्व का स्वरूप कैसे देते ? हम देखना भूल जाते हैं कि जिसे हमने परिणाम समझा है वह वास्तविक परिणाम नहीं है—स्वर्ण और स्वर्णिम भविष्य के बाद भी हमारी गति को विराम नहीं—तथाकथित स्वर्ण या स्वर्णिम भविष्य को पा लेते हुए से भी हम वास्तविक स्वर्ण को नहीं पा सके। असंख्य सहस्राब्दियों की प्रगति, विवेक कल्पित अजस्र मानव-प्रयत्न, के इतिहास में भी पारद सच्चा स्वर्ण बनता हुआ नहीं दिखाई दिया।

तथापि प्रयत्न तो चलेगा, चलता ही रहेगा।

और फिर, कभी किसी एकाध और स्वर्ण का मूल तत्व, चिदानन्द-गति का तत्व, कदाचित् हाथ लग जाए तो लग जाए—कभी किसी को शायद लग भी गया होगा, कौन जाने—और तब यथार्थ स्वर्ण भी उसके हाँथ से दूर न रहेगा। और तभी यह भी पता लग जाएगा कि हमारी आकाक्षाएँ, प्रवंचनाएँ, स्वर्ण-पारद नहीं बल्कि पारद की ही मरीचिमयी विकृतियाँ हैं[1]।

---

१. नवयुग।

शतरञ्ज की पश्चिम-यात्रा

जब से भारतवर्ष का संसर्ग अंग्रेज़ी से हुआ और जब से भारत-वासियों में अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा बढ़ी तब से बहुत-से लोग प्राच्य और पाश्चात्य संसार के पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने लगे हैं। कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनके विषय में भारत, यदि उसका पश्चिम से सम्पर्क न हुआ होता तो, हमेशा अन्धकार में पड़ा रहता। ऋण-प्रतिऋण का यह सिलसिला सिकन्दर के समय से चला आता है। ऐसे ही ऋणों में एक ऋण शतरञ्ज के खेल का भी है जिसके लिए यूरोप अपने पूर्व-वासियों का अनुगृहीत है।

शतरञ्ज का खेल भारत में पुराना है। संस्कृत नाम 'चतुरङ्ग' है। 'चतुरङ्ग' से मतलब 'चार अंगों वाली सेना का है। रथ, हाथी, घुड़-सवार और पैदल सैनिकों से युक्त सेना को लेकर एक फ़र्ज़ी (कल्पित) बादशाह अपने अमात्य-सहित जब एक वैसे ही दूसरे फ़र्ज़ी बादशाह के विरुद्ध 'चतुरङ्ग पट्टिका' के रणांगण में उतरता है तो 'चतुरङ्ग' का खेल होता है। चतुरङ्ग का स्पष्ट उल्लेख बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाया जाता है। रुद्रट के काव्यालंकार में भी एक पद्यात्मक पहेली दी हुई है जिसमें रथ, हाथी और घोड़ों की चालों का ज़िक्र है।

छठी शताब्दी में इस खेल का ईरान वालों को पता लगा और वहाँ से फिर यह अरब-वासियों द्वारा ग्यारहवीं शताब्दीके अन्त तक यूरोप में पहुंच गया। शतरंज का खेल बड़ा ही दिलचस्प है और सहज ही लोगों को अपना वश्य बना लेता है। यूरोप में यह बहुत ही लोकप्रिय हो गया,